बुनियादी शिक्षा की प्रासंगिकता

❑ कृष्ण कुमार

यह दिगन्तर व्याख्यानमाला का तीसरा व्याख्यान (10 जनवरी, 1998) है । 'विमर्श' के प्रवेशांक में हमने कृष्ण कुमार का अनूदित लेख ''आजादी के पांच दशक-दिशाहीन शिक्षा'' छापा था । इस पर प्रतिक्रिया में वरिष्ठ कवि और चिंतक नंद चतुर्वेदी ने लिखा है : ''कृष्ण कुमार उन महत्वपूर्ण लेखकों में हैं जो एक बौद्धिक अनुसंधान की उत्तेजना जगाते हैं और उस रोमान्टिसिज्म को तोड़ते हैं जो तीसरी दुनिया के लोगों को पकड़े हुए है ।'' बुनियादी शिक्षा पर कृष्ण कुमार के इस व्याख्यान के संदर्भ में भी नंद बाबू से सहमत हुआ जा सकता है । व्याख्यान में उनके 'आभासी विषयान्तर' प्रसंग के नये क्षितिज खोलते हैं ।

मित्रो यहां आना, दिगन्तर में, दिल्ली से अलग, वैसे ही बहुत सुखद होता है। और अपराध-बोध होता है कि मैं यहां और ज्यादा क्यों नहीं होता । आज रोहित जी ने जो काम दिया है वह विशेष ही कुछ कठिन है। क्योंकि इन्होंने जो विषय दिया है बुनियादी शिक्षा का; इसके बारे में मेरी राय उनसे बहुत समय से भिन्न रही है और हम दोनों अपने इस मत वैभिन्य से परिचित रहे हैं। रोहित जी की एक दिक्कत मेरी दृष्टि में यह है कि वो सत्यान्वेषी है । बिना तर्क दिये किसी बात को मानते नहीं हैं। अगर मैं उनसे कहूं कि भाई मेरे भरोसे आप ये बुनियादी शिक्षा का पौधा यहां लगा लीजिये, तो कहेंगे नहीं, तुम्हारे भरोसे कैसे लगा लें? किसी के भरोसे कोई काम नहीं करेंगे। इनकी उपस्थिति में और इनकी संस्था में आकर इस विषय पर बोलना मेरे लिये विशेष रूप से चुनौती है। क्योंकि मैं यहां एक सत्यान्वेषी की हैसियत बिल्कुल ही नहीं अपना सकता हूँ। क्योंकि मैं बुनियादी शिक्षा का पक्षधर हूँ और मैं यहां इसके वकील की हैसियत से अपने को पाता हूँ। वकील सत्यान्वेषी नहीं हो सकता है । वह तो पैरवी करता है। तो जिस चीज की पैरवी करता है उसी की तरफ से देखता है । और उसको बाकी सब चीजें, और विकल्प, कुछ कम करके दिखाने ही होते हैं । यह दुर्भावना वश नहीं बल्कि इसलिये कि उसका पक्ष जीते । मैं आज इसी इरादे से आया हूँ। इसलिए आप सब सक्रिय लोग, विद्वान लोग, बौद्धिक लोग जो यहां मौजूद हैं, उन सभी से मुझे ये कहना है कि इस वार्ता में सिर्फ तर्क या विश्लेषण की अपेक्षा ना रखें क्योंकि ये एक तरह के विश्वास की अभिव्यक्ति है । विश्वास का तर्क की दुनिया में क्या स्थान है ? ये एक अलग ही मुद्दा है । और है भी कि नही है। लेकिन मैं अपनी एक विश्वास की पुरानी चीज को यहां आपकी दुनिया में रखने के लिये आया हूँ। और थोड़ी बहुत कोशिश करुंगा कि यहां जो तरीके हैं, थोड़ा बहुत तर्क-वितर्क का सहारा लेता हुआ रखूं, लेकिन फिर मैं आपको आगाह कर देना चाहता हूँ कि मेरे लिये यह मामला एक प्रकार से एक बहुत पुरानी चीज का मामला है जिसको लेकर मुझे लगता है कि हमने पर्याप्त विचार नहीं किया ।

मैं अपनी विश्वास की एक पुरानी चीज को यहां आपकी इस दुनिया में रखने के लिये आया हूँ । और थोड़ी बहुत कोशिश करुंगा कि यहां जो तरीके हैं थोड़ा बहुत तर्क-वितर्क का सहारा लेता हुआ रखूं, लेकिन फिर मैं आपको आगाह कर देना चाहता हूँ कि मेरे लिये यह मामला एक प्रकार से एक बहुत पुरानी चीज का मामला है जिसको लेकर मुझे लगता है कि हमने पर्याप्त विचार नहीं किया।

बुनियादी शिक्षा के बारे में आज 1997-98 में खड़े होकर कुछ कहना वैसे भी काफी जोखिम का सौदा है । किसी जगह आप यह कहिए कि ये बीज यहां लगाइये, ये पौधा यहां अपनाइये, तो लोग पहले कहेंगे कि इसका पुराना रिकार्ड बताओ । बुनियादी शिक्षा के पौधे का पुराना रिकार्ड बताओ । बुनियादी शिक्षा के पौधे का पुराना रिकार्ड काफी खराब है। इसके बारे में कोई भी नहीं कह सकता कि यह पौधा कभी बहुत ज्यादा फला फूला या इससे जो अपेक्षित परिणाम थे वो लोगों को मिले । बल्कि इसका उल्टा रिकार्ड ज्यादा स्पष्ट है । जब बुनियादी शिक्षा का पौधा लगाया गया और काफी अच्छी आबोहवा में लगाया गया, उस समय भी इसके अच्छे परिणाम चारों

बुनियादी शिक्षा के पौधे का पुराना रिकार्ड काफी खराब है। इसके बारे में कोई भी नहीं कह सकता कि यह पौधा कभी बहुत ज्यादा फला फूला या इससे जो अपेक्षित परिणाम थे वो लोगों को मिले । बल्कि इसका उल्टा रिकार्ड ज्यादा स्पष्ट है ।

तरफ देखने को नहीं आये । कई सुखद परिणाम आये इसमें संदेह नहीं । लेकिन कुल मिलाकर आज के समाज में इसकी जो छवि है वो यही है कि इसको तो हम आजमा कर देख चुके और अब इसमें क्या रखा हुआ है । अक्सर बुनियादी शिक्षा की बात आने पर लोग यही कह देते हैं कि ये वो रास्ता है जो बहुत पीछे छूट चुका है । और अब हम जिस मुकाम पर खड़े हैं, इस मुकाम पर तो कोई नया रास्ता बताओ । अब वैसे भी आज के समाज में ये मुहावरा बन चुका है कि घड़ी की दुनिया कभी पीछे नहीं जाती, इसलिए मनुष्य भी कभी पीछे नहीं जा सकता । यहां तक कि पीछे मुड़कर देखना भी अब एक बहुत ही घटिया चीज मानी जाती है । पीछे मुड़कर चलना और कुछ दूर जाकर छूटी हुई राह को पकड़ना या इस तरह की बात की पैरवी करना यह तो जाहिर है कि बिल्कुल ही, आज के समय को देखते हुए, काफी बचकाना-सी हरकत लग सकती है । जिन किसानों ने इसको पहली बार आजमाकर देखा था, उनकी कीर्ति भी कोई बहुत अच्छी नहीं है । इधर के 30-40 वर्षों में जिस चीज को गांधीवाद कहा जाता रहा है, उसके प्रणेता या उसको इस्तेमाल करके दिखाने वाले लोगों ने भी अपनी कोई साफ सुथरी जगह हमारे समाज में बनाई हो ऐसा भी नहीं है। उनमें कई बड़े आदरणीय लोग कहे जा सकते हैं । लेकिन कुल मिलाकर गांधीवाद, गांधी के साथ, उनके अन्य विचारों के साथ न्याय कर पाया हो, आज की तारीख में, समीक्षा करने पर ऐसा नहीं लगता। बल्कि एक बड़ी भारी अवधारणात्मक समस्या पैदा हो जाती है कि क्या गांधी का विचार ऐसा था जिसको वाद में बदला जा सकता था? या हमें गांधी की परम्परा की बात करनी चाहिये थी, गांधीवाद की भी बात करनी चाहिये थी ? एक और दीगर सवाल है जिसको मैं लटका कर छोड़े दे रहा हूँ कि क्या गांधीवाद अपने आप में एक अन्तर्विरोधी विचार नहीं है ? गांधी जितनी तरह की चीजों को करते थे, जिस तरह से करते थे, उस प्रणाली में हमें परम्परा की तलाश करनी चाहिये या वाद की ? ये महत्वपूर्ण सवाल है । खास तौर से आज के वक्त में जब विचार की परम्परा अवसरवाद का रूप ग्रहण कर लेती है तो यह सवाल बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाता है ।

और भी दिक्कतें है बुनियादी शिक्षा पर आज की तारीख में बात करने में । सबसे बड़ी दिक्कत तो यही है जिसका जिक्र में सबके बाद में कर रहा हूं, कि इसके साथ गांधी का नाम जुड़ा हुआ है। और गांधी जी को लेकर भी आज जितनी तरह की रूढ़ छवियां समाज में फैल चुकी हैं; उनको फिर से न पढ़ने की एक बात, एक जिद या एक जरुरत की तरफ देखने से ही एक प्रकार की चिढ़, जो एक व्यापक पैमाने पर दिखाई देती है, वो कहीं न कहीं गांधी महिमा-मंडन से, एक देवता में, एक मूर्ति में उनके परिवर्तन से जुड़ी हुई है । और दूसरी तरफ उनकी जो राह छूटने का मामला है उससे भी जुड़ी हुई है, कि वो राह तो बहुत पहले ही छूट गई । और कई रूप इस विमर्श ने लिये हैं जिसमें से एक रूप है कि आधुनिक हिन्दुस्तान तो नेहरू की राह पर चलकर बना और गांधी की राह उसके बिल्कुल ही भिन्न होती । और नेहरू ने गांधी के साथ न्याय नहीं किया, इत्यादि, इत्यादि। या गांधी ने नेहरू को गलत चुना । इस तरह की बातों में यह विमर्श बहुत जल्दी उलझ जाता है। जैसे ही गांधी से जुड़े हुये किसी विचार की चर्चा शुरू होती है, वैसे ही यह सवाल शुरू हो जाता है कि हमें उस विचार को फिर से एक बार 50-60 साल के पहले की परिस्थितियों में विचार का जो रूप उभरा था उस रूप की पवित्रता को ध्यान में रखकर लोगों को समझाना है और एक लम्बा-चौड़ा व्याख्यान यहां से शुरू हो जाता है । इसको आप नहीं सुन सकते हैं, जब तक कि आप स्वयं गांधीवादी न हों, या उस तरह की चर्चाओं में रस लेते हों, वरना आज की परिस्थिति में यह विचार बहुत सुलभ नहीं लगता । आज की परिस्थिति में हम जैसे बन गये हैं, हम सब तो नहीं कह सकते, क्योंकि हम में से बहुत से लोग उस पीढ़ी के सदस्य हैं जिसका जन्म ही गांधी के बाद हुआ, जिनको हवा में हल्की-सी महक तो मिली अपने बचपन में गांधी की उपस्थिति की, लेकिन जिन लोगों के जरिये मिली, उन के बारे में कहना ज्यादा स्पष्ट नहीं कि वो सचमुच गांधी के पास रहे। इक्का-दुक्का

गांधी जी को लेकर भी आज जितनी तरह की रूढ़ छवियां समाज में फैल चुकी हैं; उनको फिर से न पढ़ने की एक बात, एक जिद या एक जरुरत की तरफ देखने से ही एक प्रकार की चिढ़, जो एक व्यापक पैमाने पर दिखाई देती है, वो कहीं न कहीं गांधी महिमा-मंडन से, एक देवता में, एक मूर्ति में उनके परिवर्तन से जुड़ी हुई है । और दूसरी तरफ उनकी जो राह छूटने का मामला है उससे भी जुड़ी हुई है, कि वो राह तो बहुत पहले ही छूट गई । और कई रूप इस विमर्श ने लिये हैं जिसमें से एक रूप है कि आधुनिक हिन्दुस्तान तो नेहरू की राह पर चलकर बना और गांधी की राह उसके बिल्कुल ही भिन्न होती । और नेहरू ने गांधी के साथ न्याय नहीं किया, इत्यादि, इत्यादि । या गांधी ने नेहरू को गलत चुना । इस तरह की बातों में यह विमर्श बहुत जल्दी उलझ जाता है ।

लोगों के उदाहरण मैं नहीं दे रहा हूँ, एक सामान्य सी बात कह रहा हूँ । इन सब बातों को देखते हुए इस विषय की एक खासी जटिलता मेरे सामने है । वकील एक ऐसे दीवानी मामले का, जो ऐसी जायदाद का मामला यहां पर ला रहा हो जो पहले ही छिन्न-भिन्न हो गई हो, चारों तरफ घटा रूप में फैली हुई हो । ऐसे वकील को आप क्या कहेंगे ? करूणा की दृष्टि से देखेंगे । इसलिये थोड़ा बहुत गर्व है इस बात का कि मैं आज इस मामले की पैरवी करने के लिए आपके बीच हूँ । यह गर्व उसी तरह का है जैसे भोला भाई देसाई को जवाहर लाल का मुकदमा लड़ने पर हुआ होगा । स्वयं जवाहर लाल नेहरू को इंडियन नेशनल आर्मी का मुकदमा लड़ने पर हुआ होगा । एक ऐसा मुकदमा जिसके जीते जाने की संभावना बहुत कम हो, फिर भी आप केवल इसलिये लड़ रहे हों क्योंकि आपकी उस विचार में किसी वजह से कोई आस्था हो या उसके प्रति एक स्नेह हो और ये दोनो ही बातें मुझे लगता है कि अपने संदर्भ में मैं बुनियादी शिक्षा के लिए कह सकता हूं ।

मैं स्वयं बुनियादी शिक्षा के एक स्कूल में पढ़ा हुआ बच्चा हूँ । और जिन वर्षों में मैनें यह शिक्षा पाई उन वर्षों के पोषण को बहुत वस्तुपरक होकर तो याद नहीं किया जा सकता, क्योंकि बचपन से जैसे जैसे आप दूर हटते जाते हैं उसको बहुत वैज्ञानिक रूप में तो आप नहीं देख पाते, वो स्मृतियों में घिर जाता है । और इसलिए मैं नहीं कह सकता कि मैं अपने अनुभवों से कुछ कह रहा हूँ । लेकिन फिर भी यह जता देना मेरे लिए जरुरी है कि ऐसा एक स्कूल न केवल मैंने देखा है बल्कि मैं उसमें से निकला हूँ और बुनियादी शिक्षा के ऐसे सैकड़ों-हजारों स्कूल इस देश में रहे हैं और उन में से किसी न किसी रूप में कुछ अभी भी हैं । कहीं ऐसे ही नाम रूप में, कहीं विस्तृत रूप में, बुनियादी शिक्षा देखने को मिल जाती है । मुझे लगता है कि अगर हम सब की रूचि इसमें जाती है तो संभव है कि हम ऐसी संस्थाओं को आज देखकर इस समग्र रूप का अंदाज लगाने का छोटा-मोटा अभियान करें तो मैं आप को जो कहुंगा उससे कहीं ज्यादा एक विचार की पूरी आकृति आपके मन में बनेगी । मैं बहुत ही एक छोटी सी आकृति बनाने के लिये और उसमें निहित सुन्दरता को विशेष रूप से निकाल कर दिखाने के लिए यहां आया हूँ और यह काम शुरु करना चाहता हूँ ।

तीन बातें जो बुनियादी शिक्षा के विचार के साथ शुरू से ही जुड़ी रहीं वे बड़ी मोटी सी हैं, और आज जबकि भारतीय शिक्षा से जुड़े हुए लोग यह देख रहे हैं, उन्होनें सब घाटों का पानी पीया है, तो उनको ये बातें बताना बहुत बड़ी मुश्किल नहीं है । और इन बातों को फिर से बताते हुए,यह बात शायद बुनियादी शिक्षा की पैरवी के पक्ष में ही जाती हो कि कम से कम आज यह स्थिति नहीं है कि हम यह कहें कि फलां घाट का पानी अगर पीते तो वह बेहतर होता । इन 50 वर्षों में हमने सब घाटों का पानी पी लिया। हमने समग्र शिक्षा भी देखी। हम कहीं समग्र दर्शन की खोज में 50 और 60 के दशक में रहे और आज यहां हम विखण्डित दर्शन की खोज में न्यूनतम अधिगम स्तरों तक पहुंच गये हैं जिसमें हरेक व्यवहार अपनी ही छटा लिये हुए है और इन्हें आपस में पिरोने वाले किसी भविष्य दर्शन की कल्पना का कोई दृश्य नहीं है । सब तरह की चीजें भारतीय शिक्षा कई तरह से कई बार करके देख चुकी है और उसने बीजों को तोड़-मरोड़ कर, कई प्रकार बोकर, अपने आपको जैसे दिखा लिया है कि कहीं कोई बात नहीं बनी । ऐसी स्थिति में उन तीन मुख्य विचारों को याद कर लेना काफी आसान हो जाता है, क्योंकि वो तीन विचार बुनियादी शिक्षा के मूल प्रस्ताव में निहित थे । आज हमें बेगाने नहीं लग सकते जितने कि तब लोगों को लगे होंगे, जब 1937, यानि आज से कोई 60 साल पहले गांधी जी ने बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव देश को दिया था। ये तीनों विचार हमारे लिये अब इतने ज्यादा परिचित हैं कि खतरा इस बात का है कि हम कहें कि अरे यह सब तो हम जानते हैं, इसमें नया क्या है । और सचमुच यह बात कही जा सकती है कि

हमने समग्र शिक्षा भी देखी। हम कहीं समग्र दर्शन की खोज में 50 और 60 के दशक में रहे और आज यहां हम विखण्डित दर्शन की खोज में न्यूनतम अधिगम स्तरों तक पहुंच गये हैं जिसमें हरेक व्यवहार अपनी ही छटा लिये हुए है और इन्हें आपस में पिरोने वाले भविष्य दर्शन की कल्पना का कोई दृश्य नहीं है । सब तरह की चीजें भारतीय शिक्षा कई तरह से कई बार करके देख चुकी है और उसने बीजों को तोड़-मरोड़ कर, कई प्रकार बोकर, अपने आपको जैसे दिखा लिया है कि कहीं कोई बात नहीं बनी ।

बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव की अनुगूंजें हम इतने रूपों में सुन चुके हैं कि उस प्रस्ताव को अलग से रखना या उसकी विशेषताऐं अलग से रखकर बताना गैर जरुरी है, शायद अनुपयोगी भी है । इसलिये इस हिस्से को मैं बहुत संक्षेप में आपको कहूंगा ।

दरअसल गांधी की राजनीति में एक लम्बा शैक्षिक प्रयोग है । लोगों को अपनी बात समझाने का । लोगों के सामने अपनी बात को, एक बात के रूप में नहीं बल्कि एक किये काम के रूप में रखने का और यह मान कर चलें कि हम अपना जीवन अपने ढंग से जीयेंगे तो उसकी सुगंध वैसे ही फैलेगी । हमें बताने की जरुरत ही नहीं होगी कि यह सुगंध क्या है ?

इन 50-60 सालों में शिक्षा के दर्शन में और शिक्षा के दर्शन को इस्तेमाल करने की प्रणालियों में तरह तरह से बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव अपनी प्रतिछवियां पाता रहता है । ये नहीं कि उस प्रस्ताव में जान बूझकर ऐसी बाते कही हों, लेकिन वैसे ही शिक्षा के दर्शन का और खास तौर से इस बीच में जिस तरह का लेखन हुआ है उसमें कहीं न कहीं बुनियादी शिक्षा एक मौजूदगी के रूप में रही है और देश में ही नहीं विदेश में भी । वैसे बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव में ऐसी बात नहीं थी जैसे कि एकदम कोई निराला पदार्थ गांधी जी कहीं से खोज कर लाये हों । जो उन्होंने कहा था वह बड़ी ही, एक सामान्य जीवन के लिए मौजूं-सी बात थी । जिनको वे खुद अपनी युवावस्था में दक्षिणी अफ्रीका के दिनों में, जब उन्होंने स्वावलम्बी जीवन के प्रयोग किये थे, आजमा कर देख चुके थे । और उनकी आत्मकथाओं में उन प्रयोगों का जो जिक्र है, उसको आप यदि पढ़ें तो लगता है कि अरे! उसके बाद इतने साल लग गये उनको शिक्षा का प्रस्ताव देने में ? थोड़ा आश्चर्य की बात है, यह आश्चर्य कुछ घट सकता है अगर हम इस बात को याद करें कि दरअसल गांधी की राजनीति में एक लम्बा शैक्षिक प्रयोग है । लोगों को अपनी बात समझाने का । लोगों के सामने अपनी बात को, एक बात के रूप में नहीं बल्कि एक किये काम के रूप में रखने का । और यह मान कर चलें कि हम अपना जीवन अपने ढंग से जीयेंगे तो उसकी सुगंध वैसे ही फैलेगी । हमें बताने की जरुरत ही नहीं होगी कि यह सुगंध क्या है ? इस तरह के विश्वास गांधी की राजनीति में लगातार उन 50 वर्षों में दिखाई देते हैं जिनके बाद जाकर 1937 में एक उभरते हुए देश के संदर्भ में, देश की कल्पना के संदर्भ में, उन्होंने बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव रखा था ।

दर्शन की दुनिया में न कोई विचार कभी पुराना होता है, न वह कभी वो रहता है जो मूल में होता है, दोनों ही बातें याद रखने की होती हैं । कोई विचार कभी पुराना नहीं पड़ता । वह विचार के रूप में हमेशा ही अपनी खास दमक लिये रहता है जो उसको एक विचार बनाती है । चाहे वह विचार 2500 साल पुराना विचार हो, बुद्ध या अरस्तु का विचार हो, चाहे वो हमारे समय में अभी अभी इस्तेमाल किया गया विचार हो, वह कभी पुराना नहीं पड़ता, फिर भी विचार में एक दमक रहती है ।

हमारे लिये ये बातें बहुत ही ज्यादा पुरानी इसलिये हो गई हैं कि तब से लेकर अब तक 3-4 आयोगों को पचा चुकी हमारी शिक्षा व्यवस्था इन बातों को बहुत ज्यादा इत्मीनान के साथ पुराना साबित करती रही है, और इन बातों का जो महत्व है या उनका सत है, उस सत को एक प्रकार से बगार चुकी है । सत तभी महत्वपूर्ण होता है जब आप उसे किसी खास शीशी में रखें । उसको अच्छी तरह से रखें, उसका आदर करें, उसको गलत हाथ से न छूयें । लेकिन आप सत को जगह-जगह फैलाते जायें, हर जगह उसका इस्तेमाल इस तरह से करने लगें कि वो राख हो, तो वह राख ही बन जाता है । इसलिये वे तीन बातें जो मैं आपको दोहरा के बताऊंगा तो आप कहेंगे कि इसके लिए बुलाया जाता है ? ये तो खामखा में इसके लिए बुला लिया! इसलिये ये तमाम चेतावनियां मैनें आपको दे दी । वैसे भी यह बात मान कर चलने की है कि देखिए दर्शन की दुनिया में न कोई विचार कभी पुराना होता है, न वह कभी वो रहता है जो मूल में होता है, दोनों ही बातें याद रखने की होती हैं । कोई विचार कभी पुराना नहीं पड़ता । वह विचार के रूप में हमेशा ही अपनी खास दमक लिये रहता है जो उसको एक विचार बनाती है । चाहे वह विचार 2500 साल पुराना विचार हो, बुद्ध या अरस्तु का विचार हो, चाहे वो हमारे समय में अभी अभी इस्तेमाल किया गया विचार हो, वह कभी पुराना नहीं पड़ता, चाहे उसको एक नहीं हजार पीढ़ियां आजमाकर देख चुकी हों और अपने नजरिये से कह चुकी हों, कि इसमें तो हमें कोई दम नहीं मिला हमने इस्तेमाल करके देखा भई! फिर भी विचार में एक दमक रहती है । दूसरी तरफ कोई विचार वह नहीं रहता जो वो तब था जब उसे पहली बार दिया गया; क्योंकि इस बीच में यह विचार कुछ अन्य विचारों में जीता है । उसका अनुभव, इस सृष्टि के आगे बढ़ने का अनुभव, निरन्तर एक विचार को, एक

पूरे परिदृश्य में लगातार एक तरह से पुनर्नियोजित करता चलता है । जो उस तरह से है जैसे कि अगर आप एक पहाड़ी के किनारे खड़े होकर वहां पड़े हुए एक पत्थर को देखेंगे और उससे दूर हटते जाते-जाते उसे देखते चले जायेंगे तो वह परिदृश्य निरन्तर बदलता जाता है, और उस परिदृश्य के बदलने के साथ साथ उस विशेष पत्थर की या विशेष चीज की, जिसको कि आपने किसी परिदृश्य में से अलग करके एक दम पास से देखा था, उसकी वह जगह भी बदलती रहती है और इसलिये कभी कोई विचार ज्यों का त्यों नहीं रहता। या वैसा नहीं होता जैसा कि वह तब लगा था या तब उसको लिख दिया था, जब उसको पहली बार सोच कर कोई रूप देने वाला था ।

यहां पर यह याद रखने की बात है कि चीजें लिख देने से बहुत नुकसान भी होता है और वह बुनियादी शिक्षा के विचार के साथ में हुआ है । हम जब किसी चीज को लिख देते हैं, और हमारी आज की दुनिया लिख देने पर ही निर्भर है, लिख देने से यह होता है कि अब यह विचार दर्ज हो चुका । अब यह विचार हमें पता है कि इसी रूप में एकदम सही है । सही और गलत के बीच में फर्क करना लिखित सभ्यता में बहुत ही रूढ़ या मशीनी ढंग से संभव हो जाता है, क्योंकि वहां इस बात का एक भ्रम-सा पैदा होने लगता है कि जो विचार कुछ खास शब्दों में लिख दिया गया, अब उसकी पवित्रता उन शब्दों से भिन्न नहीं है । बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव के साथ ही, उन तीन बातों के साथ भी, यह महत्वपूर्ण सीमा उनके लिख दिये जाने से पैदा हुई है। आप सब लोग तो डाक्यूमेंटेशन की संस्कृति से अवगत हैं, आज तो बहुत सी संस्थायें केवल इसलिये चल रही हैं कि वो डॉक्यूमेंट कर रही हैं । एक बदलती हुई सभ्यता के बीच में, ऐसी चीजों को डाक्यूमेंट करने में लगी हैं जो कि डाक्यूमेंट नहीं की जा सकती। जो जीने की पद्धतियां हैं, जो देखने की पद्धतियां है, सुनने बोलने की, मिलने-बैठने की पद्धतियां हैं- उनको आप क्या करेंगे, लेकिन हमारा जमाना ऐसा है, हम सोचते हैं कि जो मर रहा है, जो गायब हो रहा है सामने से, कुछ देर के लिए गायब हो रहा है शायद, उसको डाक्यूमेंट करके आपने सोचा कि यह उक्त रूप में हमें बाद में फिर से उपलब्ध हो जायेगा, जिस रूप में वो जिया जाता था । यह सब समस्याएं बुनियादी शिक्षा प्रस्ताव की उन तीन प्रमुख बातों के साथ हैं, इसलिये उनको यहां रखना बहुत जरुरी है । अगर हम उन बातों का कोई नयापन आज भी अपने भीतर अपने जहन में महसूस करना चाहें।

तीन बातें हैं, एक तो हाथ का काम स्कूल में हो, दूसरी, स्कूल की शिक्षा स्थानीय परिवेश से जुड़ी हो । बहुत ही आम सी बातें हैं । और तीसरी, स्कूल में जो-जो विषय पढ़ाये जायें, जो जो कौशल बढ़ाये जायें, ज्ञान के जो जो क्षेत्र वहां बच्चों तक लाये जायें, वह अलग-अलग न होकर संगठित हों । उसी तरह से आपस में बंधे हों । मैंने आपसे ये तीन बातें इतनी लम्बी भूमिका के बाद कहीं, क्यों कहीं, अब आप समझ गये होंगे । क्योंकि इन तीनों बातों को सुनकर आज जो व्यक्ति 22-24 साल का है, उसको एकदम लगेगा कि यह आदमी बासी रोटी हमारे लिये लाया। इतना तमाम उसके लिये यहां पर इन्तजाम किया है, इतने लोग आये और इतनी बासी रोटी । सचमुच यह रोटी अगर आप इस तरह से सुनते हैं तो बासी ही नजर आती है । हमने इन शब्दों को संभाल कर, लटका कर धूप में, सब तरह से करके देख लिया है, ऐसा एक अहसास है । इन तीनों बातों को, खासकर काम, स्थानीयता या स्थानीय परिवेश का महत्व और पाठ्यक्रम को संगठित करने का प्रयास, इन तीनों को अलग-अलग तरह से, अलग-अलग संदर्भों में, देश के किसी ना किसी हिस्से म या शायद राष्ट्रीय स्तर पर कई बार करके देख लिया गया है । और एक खास तरह की ऊब इन बातों को सुनकर श्रोता समूह को होने लगती है, इसका दोष मैं उनको नहीं देता । क्योंकि ये बातें ही ऐसी हैं जिनके बारें में आज एकदम उत्साहित होना कि ये नई बात होगी, कहना संभव नहीं है। बल्कि आज तो शब्दावली अगर नई नहीं हो तो कोई बात सुनने लायक नहीं होती । और इन बातों

आप सब लोग तो डाक्यूमेंटेशन की संस्कृति से अवगत हैं, आज तो बहुत सी संस्थाएं केवल इसलिये चल रही हैं कि वो डॉक्यूमेंट कर रही हैं । एक बदलती हुई सभ्यता के बीच में, ऐसी चीजों को डाक्यूमेंट करने में लगी हैं जो कि डाक्यूमेंट नहीं की जा सकतीं। जो जीने की पद्धतियां हैं, जो देखने की पद्धतियां है, सुनने बोलने की, मिलने–बैठने की पद्धतियां हैं– उसको आप क्या करेंगे ?

इन तीनों बातों को, खासकर काम, स्थानीयता या स्थानीय परिवेश का महत्व और पाठ्यक्रम को संगठित करने का प्रयास, इन तीनों को अलग–अलग तरह से, अलग–अलग संदर्भों में, देश के किसी ना किसी हिस्से में या शायद राष्ट्रीय स्तर पर कई बार करके देख लिया गया है और एक खास तरह की ऊब इन बातों को सुनकर श्रोता समूह को होने लगती है, इसका दोष मैं उनको नहीं देता ।

को बहुत संक्षेप में रखकर यहां छोड़ रहा हूँ क्योंकि इन सब बातों का अर्थ आप सबको पता है । अनुभव के स्तर पर भी और ज्ञान के स्तर पर भी । बस इसमें शायद जोड़ना इतना ही जरुरी है कि गांधी जी के द्वारा दिये गये बुनियादी शिक्षा के मूल प्रस्ताव में इस तीसरे वाले बिन्दु को किसी हस्त- कौशल के संदर्भ में उठाया गया था । इस संगठित रूप की परिकल्पना उन्होंने किसी विचारधारा के संदर्भ में नहीं उठाई थी, ना किसी मनोवैज्ञानिक संदर्भ में उठायी थी, बल्कि एक हस्त-कौशल के संदर्भ में उठाने की बात थी । क्योंकि जो उनका पहला विचार कि हाथ का काम स्कूल में हो, उसका आशय यह नहीं था कि हाथ का काम भी हो, बल्कि हाथ का काम स्कूल का केन्द्रीय विषय हो । वह इतना ज्यादा महत्वपूर्ण हो कि स्कूल के अन्य उपचार, जो तमाम सभी तरह के स्कूल की, ज्ञान की, कौशल की परंपरायें हैं, वो सब हाशिये पर चली जायेंगी, गौण हो जायेंगी और केन्द्रीय महत्व किसी हस्तकौशल का हो, जरूरी नहीं किसी एक हस्त-कौशल का हो, पर कम से कम एक पारंपरिक हस्त-कौशल का अवश्य हो। अच्छा होगा यदि वह हस्त-कौशल ऐसा हो जो स्कूल के बच्चों के परिवेश में उपलब्ध हो । वही हस्त-कौशल बच्चों के स्कूल का केन्द्रीय उद्यम हो और उनके इर्दगिर्द ज्ञान के पाठ्यक्रम के विभिन्न क्षेत्र बुने जायें और इस बुनावट को ही संगठित पाठ्यक्रम का नाम भी बुनियादी शिक्षा के संदर्भ में हम दे सकते हैं । ये बुनावट बच्चे के व्यक्तित्व की किसी सार्वभौमिक मनोविज्ञान की अवधारणा की नहीं है, न ही यह कोई राष्ट्रीय विचार धारा है बल्कि ये बुनावट उस कौशल से निकलनी चाहिये जो कि स्कूल के केन्द्रीय उद्यम के रूप में चुना है । और भी बहुत से आग्रह थे जिनमें से सबका जिक्र करना जरुरी नहीं है । खास तौर से जो उत्पादकता का आग्रह, दरअसल आप इतिहास पर नजर दौड़ा कर देखेंगे कि और जो आग्रह थे, उनको बाद में बहुत स्थान दिया गया लेकिन इस केन्द्रीय विषय पर ध्यान नहीं दिया गया । अभी आप सुनते हैं कि स्कूल में एक चीज कही जाती है 'वर्क एक्सपीरेंस' या कुछ और चीजें जो फैलाई गई हैं 'समाज में उपयोग के लिए उत्पादन कार्य' जिसके प्रत्येक शब्द पर बाकायदा आप संदेह कर सकते हैं। ये तमाम चीजें बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव को अपनाने के बाद उसकी स्मृति में, पाठ्यक्रम में रची गयी और जो अभी तक चली आ रही हैं । इसे अपनाने के बाद एक आदमी की स्मृति जिस तरह की रह जाती है, उस तरह से वो बुनियादी शिक्षा की स्मृति को संजोए हुए है । इसलिये उन तमाम आग्रहों की चर्चा करना जरूरी नहीं है क्योंकि वे तमाम तो किसी न किसी रूप में उपलब्ध हैं जो मूल प्रस्ताव के मद्दे नजर थे । ऐसे ही मातृ भाषा का कुछ महत्व शामिल था । स्थानीय परिवेश से जोड़ने की बात से मातृभाषा तो एक तरह से स्वाभाविक तर्क-प्रक्रिया के रूप में आ ही गई थी, उसे कहने की जरूरत नहीं थी, लेकिन फिर भी गांधी जी ने उसे बहुत अलग महत्व दिखाते हुये फिर से कहा । गांधी के समय तक मातृभाषा को स्थापित करने का धैर्य नहीं चुका था । आज मेरी समझ में हममें से पता नहीं कितने लोग इस बात को नई आस्था के साथ कह भी सकते हैं । शायद केवल मुख्यमंत्री लोग कह सकते हैं कि अब वो हिन्दी का प्रयोग करेंगे। जब कोई मुख्यमंत्री आपसे कहता है कि मैं आज से मातृभाषा का प्रयोग करुंगा, तो मुझे लगता है उससे कहूं कि भाई साहब, आप कह रहे हैं कि मैं आज से अपनी जुराबें धो कर पहनूंगा । आप को यह बताने की क्या जरुरत है ? आप धो कर पहन लीजिये। लेकिन फिर भी ये बात बताने की है, आज के हिन्दुस्तान में मातृभाषा की वकालत, मातृभाषा में शिक्षा की वकालत करने का कोई मायना नहीं है !

गांधी के समय तक मातृभाषा को स्थापित करने का धैर्य नहीं चुका था । आज मेरी समझ में हममें से पता नहीं कितने लोग इस बात को नई आस्था के साथ कह भी सकते हैं । शायद केवल मुख्यमंत्री लोग कह सकते हैं अब वो हिन्दी का प्रयोग करेंगे। लेकिन फिर भी ये बात बताने की है, आज के हिन्दुस्तान में मातृभाषा की वकालत, मातृभाषा में शिक्षा की वकालत करने का कोई मायना नहीं है !

इसलिये इस पहलू को केवल स्मृतिवश फूल चढ़ाकर यहां छोड़ दिया, जाए वरना तारीख का भ्रम पैदा हो जाता है कि ये बात 1898 में कही जा रही है या 1998 में । तमाम महापुरुष कह चुके, गांधी ने भी कही, उस बात को हमें किसी और स्तर पर समझना-पकड़ना होगा। मूल प्रस्ताव में इस का निश्चित रूप से महत्व था और इस बीच वाली बात के संदर्भ में था कि अगर शिक्षा को

परिवेश में रोपा जाना है तो मातृ-भाषा एक मात्र स्वाभाविक विकल्प के रूप में हमारे सामने थी। उसकी एक मात्रता के चलते अंग्रेजी माध्यम स्कूलों का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। यह इस प्रस्ताव में जो अन्तर्निहित है वह बहुत ही उग्रता के साथ आज दोहराना समीचीन नहीं है, क्योंकि आधी जनता यह सुनते ही भाग जायेगी कि अच्छा आप कह रहे हैं कि अंग्रेजी माध्यम स्कूल बन्द करने पड़ेंगे । कैसे चलेगा, हम सब के बच्चे वहां पढ़ते हैं इसलिये यह तो संभव नहीं होगा । इसलिये इस बात को एक शिक्षित वकील के रूप में मैं अभी रख रहा हूँ ।

क्योंकि यह उन तमाम आग्रहों में से एक है जो तत्कालीन संदर्भ में, तत्कालीन जलवायु में, गांधी जी ने एक उचित तर्क-प्रक्रिया के तहत रखे थे । लेकिन बुनियादी शिक्षा के मूल प्रस्ताव को, मुझे लगता है, आज की परिस्थिति में समझते हुए, इसको एक आग्रह कहा जा सकता है और हम उस आग्रह के महत्व को नकारते हुये नहीं बल्कि उस महत्व को आंकते हुये कुछ देर के लिये उसके महत्व पर अपने विचार को मुलतवी रख सकते हैं । इस वार्ता के अन्त में, मैं जरूर इस बात की ओर लौटूंगा कि कैसे यह संभव है कि हम स्थानीयता को इतने स्तरों पर परिभाषित कर सकेंगे जिसमें मातृ-भाषा का आग्रह एक अनिवार्यता के रूप में मौजूद हो ।

ये तीन बिन्दु जो कि बुनियादी शिक्षा के मूल प्रस्ताव में थे । जिन बिन्दुओं को मैंने केवल पंजीकृत करने के लिहाज से यहां पर आपके सामने रख दिया है । इसलिये नहीं कि आप ऊब महसूस करें बल्कि इसलिये कि जिससे ये सनद रहें । बीते हुए वक्त पर बार-बार एक ऐतिहासिक अन्दाज में नजर लौटाये वगैर सहज विश्लेषण की धारा में बहते हुए इस प्रस्ताव की कुछ बातों को परखने की नजर से, परखने की नहीं इनका मूल्यांकन करने की कि शिक्षा के जो प्रमुख संदर्भ हैं उनमें बुनियादी शिक्षा आज कैसे दिखेगी, अगर उसका कोई रूप आज की तारीख में संवारा जाये, निखार के दिखाया जाये, उस पौधे को यहां दिगन्तर में लगाया जाये, तो उसमें से कैसे पत्ते फूटेंगे ? किस तरह का फूल उगने की संभावना है? और उसको सुरक्षित रखने, फलता-फूलता रखने के लिये क्या-क्या उपक्रम करने होंगे ? ये तमाम बहसें उसमें से निकल सकती हैं ।

इस प्रक्रिया को, इस परख को, शुरु करने के लिए मैं डिवी के उन चार मानकों को लेना चाहूंगा जो किसी भी शैक्षिक विचार की परख के लिए मुझे लगता है कि पर्याप्त हैं। क्योंकि वो शिक्षा की समग्रता को बहुत सरल एक चतुर्भुज में, सरल चौखटे में, डालकर दिखाने की क्षमता रखता है । और ये चार कोने हैं सीखने वाला यानि कि बच्चा, अध्यापक, परिवेश और विषयवस्तु। डिवी ने इनको चार सामान्य बातें कहा है जो कि शिक्षा के किसी भी दर्शन में, शिक्षा के किसी भी प्रस्ताव में पढ़ी जा सकती हैं या पढ़ी जानी चाहियें, अगर हम उनका विश्लेषण करना चाहते हैं । इनको ही अगर हम मानक के रूप में इस्तेमाल करें, कसौटी के रूप में इस्तेमाल करें और कसौटियों पर बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव की, आज की संभावित रूपरेखा बना लें, तो मैं समझता हूँ कि कुछ रोचक परिणाम बातचीत को आगे बढ़ाने के लिए हमारे सामने आ सकते हैं । सबसे पहले बच्चे की चर्चा, सीखने में प्राथमिक स्तर पर चर्चा कर रहे हैं तो बच्चे की ही चर्चा करें । आज बात करते हैं बच्चा, लड़का या लड़की, तो हमारे मन में, अपनी शिक्षावश, अपने प्रशिक्षण वश, बच्चे की एक ऐसी सार्वभौमिक छवि बन जाती है जो बीसवीं सदी में मनोविज्ञान ने बनाई है । दरअसल मनोविज्ञान शिक्षा से जुड़े हुए हरेक व्यक्ति के लिये एक अनिवार्य विषय, कोई पिछले लगभग 80-90 वर्षों से, रहा है । और न केवल एक विषय रहा है बल्कि शिक्षा व ज्ञान के पाठ्यक्रम पर, खास तौर से शिक्षकों के प्रशिक्षणों के पाठ्यक्रमों पर, बकायदे इसकी चौधराहट का दबदबा रहा है । उसने शिक्षा के दर्शन को, शिक्षा के समाज-शास्त्र को, एक तरह से अपना गृह मानकर पाल रखा है । शिक्षा के किसी भी शिक्षक-शिक्षण महाविद्यालय में, अगर आपका ऐसा दुर्भाग्य हो जैसा

अगर शिक्षा को परिवेश में रोपा जाना है तो मातृभाषा एक मात्र स्वाभाविक विकल्प के रूप में हमारे सामने थी। उसकी एक मात्रता के चलते अंग्रेजी माध्यम स्कूलों का कोई अर्थ नहीं रह जाता है ।

सीखने वाला यानि कि बच्चा, अध्यापक, परिवेश और विषयवस्तु । डिवी ने इनको चार सामान्य बातें कहा है जो कि शिक्षा के किसी भी दर्शन में, शिक्षा के किसी भी प्रस्ताव में पढ़ी जा सकती हैं या पढ़ी जानी चाहियें, अगर हम उनका विश्लेषण करना चाहते हैं । इनको ही अगर हम मानक के रूप में इस्तेमाल करें, कसौटी के रूप में इस्तेमाल करें और कसौटियों पर बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव की, आज की संभावित रूपरेखा बना लें, तो मैं समझता हूँ कि कुछ रोचक परिणाम बातचीत को आगे बढ़ाने के लिए हमारे सामने आ सकते हैं ।

कि मेरा जीवन पर्यन्त है । दो घण्टे का दुर्भाग्य आपके जीवन में आये कि आप किसी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय में प्रवेश करें और वहां की हवा सूंघे तो आप पायेंगे कि मनोविज्ञान की गंध बड़ी भारी मात्रा में होगी । अगर आपको उस गंध में जीने का अभ्यास नहीं है तो आप को बाहर जाकर किसी और आदमी से बात करना जरुरी हो जायेगा । शिक्षा में मनोविज्ञान की गंध गाढ़ी गन्ध है और खास तौर से बच्चे के संदर्भ में इस गंध को अच्छी तरह समझ लेने की जरुरत है, अगर हम बुनियादी शिक्षा के संदर्भ में, बच्चे की कोई छवि अपने मन में बनाना चाहें ।

मनोविज्ञान एक बहुत ही महत्वपूर्ण शाखा है आत्मिक ज्ञान की । जिन-जिन विषयों के साथ विज्ञान शब्द जुड़ा है, उन-उन विषयों की महिमा तो अपरम्पार है, यह कहकर ही इसकी चर्चा शुरु करनी चाहिये। क्योंकि जिस रूप में हम शब्द से परिचित हैं कि विज्ञान, इस शब्द की दो शताब्दियों में जो छटा है जिसके साये में हम सब जीते हैं, उस छटा के 2-4 बिन्दुओं को याद करके ही ऐसा कोई विषय या इस विषय पर बोलने की हिमाकत करनी चाहिये जो अपने को विज्ञान कहता हो । आज के समय में, ऐसा चलन आज ही नहीं बहुत समय से चल रहा है ; आज के समय में कोई ज्ञान तभी महत्त्वपूर्ण माना जाता है जब वह अपने को विज्ञान कह सके । आप देखते होंगे कि एक तरफ राजनीति करने वाले, दूसरी तरफ उनका अध्ययन करने वाले अपने को राजनीति-वैज्ञानिक कहते हैं । इसी तरह हम सामाजिक-विज्ञान शाखाओं की चर्चा करते हैं । इन तमाम ज्ञानों में यह बात गहराई से, एक मान्यता के तौर पर निहित होती है कि विज्ञान तो वह है जिसमें निहित अवधारणायें सार्वभौमिक स्तर पर सिद्ध की जा सकें । और सिद्ध करने के उनके निश्चित तरीके हों । यह नहीं हो सकता कि आप अपने तरीके से सिद्ध करके दिखायें । विज्ञान की दुनियां में सिद्ध करने के खास तरीके होते हैं जिनको मानकर ही हम किसी विषय को विज्ञान की तरह पढ़ या पढ़ा सकते हैं । मनोविज्ञान उन महत्वपूर्ण विषयों में से एक है जिसने शिक्षा के क्षेत्र में इस सार्वभौमिकता को महत्व दिलाया है, विशेषकर बच्चे की छवि के संदर्भ में । आज जब हम तो बात करते हैं बच्चे की, हमारे मन में जो दो-तीन प्रमुख बातें आती है वो कहीं न कहीं मनोविज्ञान के द्वारा रचे गये बच्चे की हैं।

कौनसी विशेषतायें – एक तो यह कि बच्चा उस प्राणी का नाम है जो एकदम स्वतंत्र हो । स्वतंत्र यानि इतना ज्यादा आजाद कि वह किसी भी जिम्मेदारी से दूर हो, यानि जिम्मेदारी और बचपन – इन दोनों के बीच अन्तर्विरोध है । इस मान्यता के आधार पर ही बच्चे की छवि आज हमारे मन में बन गई । अगर ऐसा बचपन जीया जा रहा है जिसमें कुछ जिम्मेदारियां बचपन से ही हैं तो उसको सही बचपन या असली बचपन मानने से हम सब कतराते हैं।

जब मैं कहता हूँ मनोविज्ञान से रचा गया बच्चा तो आशय है कि मनोविज्ञान ने जिस तरह से बच्चे की खोज की है सारी दुनिया में । जिस तरह से उस पर शोध किया है, उस शोध के परिणाम स्वरूप एक बच्चे का प्रारूप, एक मॉडल प्रारूप जन्मा है, जिसमें कुछ विशेषताएं प्रमुख हो गई, उन विशेषताओं को हम इतनी सहजता से आत्मसात कर चुके हैं कि जब हम बात करते हैं कि 'बच्चा' तो हमारे मन में वो प्रमुख विशेषतायें एकदम, एक विश्वास के स्तर पर उभर आती हैं । कौनसी विशेषतायें - एक तो यह कि बच्चा उस प्राणी का नाम है जो एकदम स्वतंत्र हो । स्वतंत्र यानि इतना ज्यादा आजाद कि वह किसी भी जिम्मेदारी से दूर हो, यानि जिम्मेदारी और बचपन - इन दोनों के बीच अन्तर्विरोध है । इस मान्यता के आधार पर ही बच्चे की छवि आज हमारे मन में बन गई । अगर ऐसा बचपन जीया जा रहा है जिसमें कुछ जिम्मेदारियां बचपन से ही हैं तो उसको सही बचपन या असली बचपन मानने से हम सब कतराते हैं। मैं भी कतराता हूँ, क्योंकि हमारे मन में यह छवि बनी हुई है कि बचपन तो वह है जिसमें जिम्मेदारी नहीं हो, यह तो खेलने खाने का, उन्मुक्त होने का वक्त है । यह तो ऐसा वक्त है जब हम सब तरह खोये हुए हों ।

दरअसल सिर्फ मनोविज्ञान पर इस छवि को गढ़ देने का श्रेय देना सही नहीं है । इस छवि को गढ़ने के पीछे पूरा एक इतिहास है, विशेषकर आधुनिक यूरोप का इतिहास । खासतौर से यूरोप के औद्योगिक इतिहास को यहां याद रख लेना जरुरी है । पिछले 300 वर्षों में यूरोप का समाज जिन-जिन अनुभवों से गुजरा है, उन अनुभवों से गुजर कर ही उसने बचपन की एक छवि बनाई

है । इसमें बच्चे और बड़े के बीच एक द्वैत है । एक आधारभूत सिंद्धांत के रूप में माना जाता है कि बड़ा वो है जिसका बचपन समाप्त हो चुका है । और एक बच्चा वह है जो बड़ा नहीं हुआ हो। दोनों में एक प्रमुख फर्क़ यह है कि बड़ा वो जो जिम्मेदारियों से घिरा हो, जो चिन्ता कर सकता हो, और बच्चा वो जो जिम्मेदारियों से मुक्त हो । सब चिन्ताओं से दूर हो । इन दोनों के बीच एक स्पष्ट टकराव है और इस टकराव को मनोविज्ञान की भाषा में संधि-काल कहा जाता है । उस संधिकाल को मनोविज्ञान की कक्षाओं में किशोरावस्था कह कर पढ़ाया जाता है । किशोरावस्था वह संधिकाल है जिसमें बच्चा बड़ा होने की प्रक्रिया में रहता है और इस दौरान जो टकराहटें, जो समस्यायें उत्पन्न होती हैं, उन्हें एक खास ढंग से रूपायित करना आधुनिक मनोविज्ञान का बड़ा महत्व का विषय रहा है । दरअसल मनोविज्ञान का बहुत हिस्सा ऐसा ही है जो किशोरवस्था की विशेषतायें इस तरह से पढ़ाने में खर्च हो जाता है जैसे कि वो विशेषतायें सार्वभौमिक हो । इन विशेषताओं में सबसे प्रमुख विशेषता तो यह है कि किशोरावस्था में अपनी पहचान का संकट पैदा होता है कि 'मैं कौन हूं' ! और वो संकट समाज में उपलब्ध भूमिकाओं में से अपने को विभिन्न भूमिकाओं में रखकर, अपने व्यक्तित्व को समाज में समाहित करने की प्रक्रिया में एक खास पहचान देने से जुड़ा है। किशोरावस्था का यह संकट समझे बिना हम बचपन की वो छवि पूरी तरह से आत्मसात नहीं कर सकते जो मनोविज्ञान ने दी है । यहीं कहीं समाज और विश्व के बीच का द्वैत बहुत महत्त्वपूर्ण है जो कि आधुनिक समाज शास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों की पहेली है । जहां से यह अवधारणा निकली है कि शिक्षा का एक प्रमुख कार्य है बच्चे का समाजीकरण करना। इस अवधारणा का आशय यह है कि समाज मूल्यों, विश्वासों, मान्यताओं, विभिन्न तौर-तरीकों का एक ऐसा समुच्चय है जिनमें बच्चे को ढाला जाना है। यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप में नहीं घट सकती। यह प्रक्रिया घटाई जाना और शिक्षा को इस तरह से समायोजित करना है कि वो बच्चे का समाजीकरण एक दिये गये समाज में कर सके। यानि बच्चे को अव्वल तो एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में यहां मान्यता दी है, फिर एक स्वतन्त्र इकाई को एक खास समाज व्यवस्था में ढालने की प्रक्रिया। यह पूरा एक शिक्षा दर्शन है जिसको और कोई शब्द देना संभव नहीं होगा । यह दर्शन नहीं, यह दिग्दर्शन है, लेकिन यही है वो दर्शन जिससे हमें ये नौकरी मिली हुई है । जो हम लोग शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान समझाते हैं, उसके मोटे-मोटे बिन्दु मैं आपके सामने उभार कर रख रहा हूं । इसमें बच्चे और समाज के बीच में एक टकराव, बड़े एवं बच्चे होने के बीच में टकराव और इस टकराव को यथा संभव संभालते हुये, यथासंभव इस टकराव से पैदा होने वाली चोटों पर मरहम लगाते हुये, बच्चे को समाज में दीक्षित कर देने का काम शिक्षा को सौंपा । स्कूल एक प्रकार का अस्पताल है जहां इस टकराहट से पैदा होने वाली चोटों पर मरहम पट्टी की जाती है । इस अस्पताल की तमाम किस्म की और जिम्मेदारियां हैं जो कि पुराने समय में नहीं होती थी, आज के समय में एकदम मुखर होकर सामने आ रही हैं । इसलिये क्योंकि टकरावों के चलते ही स्कूल की एक जगह बनी है ।

शिक्षा का एक प्रमुख कार्य है बच्चे का समाजीकरण करना । इस अवधारणा का आशय यह है कि समाज मूल्यों, विश्वासों, मान्यताओं, विभिन्न तौर–तरीकों का एक ऐसा समुच्चय है जिनमें बच्चे को ढाला जाना है । यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप में नहीं घट सकती।

स्कूल एक प्रकार का अस्पताल है जहां इस टकराहट से पैदा होने वाली चोटों पर मरहम पट्टी की जाती है । इस अस्पताल की तमाम किस्म की और जिम्मेदारियां हैं जो कि पुराने समय में नहीं होती थी, आज के समय में एकदम मुखर होकर सामने आ रही हैं । इसलिये क्योंकि टकरावों के चलते ही स्कूल की एक जगह बनी है ।

इस सब के साथ एक और चीज को याद कर लें जो यूरोपीय इतिहास के साथ बड़ी महत्वपूर्ण रही है और जिसने आधुनिक बचपन को परिभाषित करने की एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। लेकिन जो अन्त: सलिला है, कभी दिखाई नहीं देती, न हम उसकी चर्चा करते हैं । लेकिन मनोविज्ञान की कक्षाओं में उसको विशेष रूप से समझना होता है, क्योंकि वो आधुनिक मनोविज्ञान के अर्थ में बचपन व किशोरावस्था को समझने की एक बुनियादी अवधारणा है । और वो है बुराई की । बचपन वो है जिसे बुराई से दूर रखा जाये । बुराई कौनसी, सबसे ज्यादा बुरी बुराई कौनसी? यूरोपीय संदर्भ में सबसे ज्यादा बुरी बुराई है, आदमी और औरत के संबंध की । बुराई, जिस पर 300 वर्षों के अथक मानसिक संघर्ष से गुजर कर भी यूरोप मुक्त नहीं हो पाया । जब बचपन को

एक अबोध अवस्था के रूप में चित्रित किया जाता है और किशोरावस्था को उस संधिकाल के रूप में चित्रित किया जाता है, तो किशोर को जिम्मेदारी और यौन-ज्ञान से अवगत होना पड़ता है। बुनियादी मान्यता यह कहती है कि अबोधावस्था तभी सुरक्षित रह सकती है जब वो इस बुरे ज्ञान से दूर रहे और इसकी चर्चा ना की जाये । यह उतना ही बुरा है जितना कि किसी बच्चे को जिम्मेदारी दे देना । आमदनी की प्रक्रियाओं में जीने के लिए जो जरुरी उपक्रम है सामाजिक जीवन में, उनमें रखना, दूसरे नंबर की बुराई बन जाता है । इन सब से मुक्त और इन सब से दूर जी जाती हुई जिन्दगी का हिस्सा-बचपन। उसे बचपन का नाम दिया जाता है जिसमें एक खास तरह की संरक्षित पवित्रता है और जिसको वैसा रखकर हम बड़े अपने को अपराध बोध से मुक्त मानते हैं । यहां हमने अपने बच्चों को इतने वर्ष इस बड़े संसार से, इस बुरी जिन्दगी से दूर रखा। दरअसल संसार को बुरा कहने के पीछे भी बड़ा महत्वपूर्ण इतिहास है इस विचार का, जिनसे बाल-केन्द्रित शिक्षा के संदर्भ में रूसो का हवाला दिये बिना संदर्भित नहीं किया जा सकता । रूसो ने समाज और प्रकृति के बीच जो द्वैत, अन्तर्विरोध पहचाना था और जिसके तहत उसने प्राकृतिक मनुष्य और नागरिक के द्वैत को परिभाषित किया था, वो उसके द्वारा प्रस्तावित शिक्षा की कल्पना में बड़ा महत्वपूर्ण साबित हुआ। और आगे चलकर तो शायद वही सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया । यह समाज, मनुष्य को बुराई में दीक्षित करने वाला है । मनुष्य तो केवल प्राकृतिक अवस्था में वैसे रह सकता है जैसा उसको ईश्वर ने बनाया है, यानि उसकी अच्छाई केवल प्राकृतिक अवस्था में ही सुरक्षित है । समाज में जैसे ही वह रहना शुरू करता है, उसके पैरों में बेडियां पड़ जाती है और तरह-तरह की बुराईयां उसे घेर लेती हैं । हमें अगर उसे मुक्त करना है तो शिक्षा को बाल-केन्द्रित बनाना होगा ।

बाल–केन्द्रित शिक्षा का आशय अन्त में यह निकला कि बच्चे की प्रकृति के अनुरूप शिक्षा को समन्वित करना । ये तमाम विचार आज यहां इसलिये बता देना जरूरी है कि बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव में इन सभी विचारों का व्यतिक्रम निहित है । बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव में, किसी भी तरह से उस को देखेंगे तो यह लगेगा कि यह प्रस्ताव बच्चे व बड़े के बीच में द्वैत स्वीकार नहीं करता। यह प्रस्ताव बच्चे ओर उसके समाज के बीच द्वैत स्वीकार नहीं करता ।

बाल-केन्द्रित शिक्षा का आशय अन्त में यह निकला कि बच्चे की प्रकृति के अनुरूप शिक्षा को समन्वित करना । ये तमाम विचार आज यहां इसलिये बता देना जरूरी है कि बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव में, इन सभी विचारों का व्यतिक्रम निहित है । बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव में, किसी भी तरह से उस को देखेंगे तो यह लगेगा कि यह प्रस्ताव बच्चे व बड़े के बीच में द्वैत स्वीकार नहीं करता। यह प्रस्ताव बच्चे और उसके समाज के बीच द्वैत स्वीकार नहीं करता । इसलिये यह उन तमाम चीजों को दूर रखने की वकालत नहीं करता या यह संभव नहीं है इस विचार में । उन तमाम चीजों को दूर रखने की बात, जो बाल-केन्द्रित शिक्षा की आधुनिक मनोविज्ञान सम्मत अवधारणा में निहित है । खास तौर से जिस मुद्दे को लेकर सबसे ज्यादा झंझट बुनियादी शिक्षा का नाम सुनते ही शुरु हो जाता है वो झंझट है जिम्मेदारी । और खास तौर से किसी चीज को इस तरह से बनाना जिसका समाज में कोई मूल्य हो, कोई मूल्य समाज के अर्थतन्त्र में आंका जा सके, इस तरह से बनाकर संतुष्ट महसूस करना । इस बात की जिम्मेदारी को बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव से अलग करना संभव नहीं है । बाल-मजदूरी को लेकर आज जो बहस देश में चल रही है, उस बहस के संदर्भ में बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव एक ऐसा आयाम एकाएक हमारे सामने उपस्थित करता है जिसको देखकर यकायक आप चल रही बहस से बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव की संगति एकदम से नहीं बिठा सकते, आज जब हम बाल-मजदूरी की बहस कर रहे हैं और मान रहे हैं कि प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीनीकरण हो ताकि बाल-मजदूरी समाप्त हो । बाल-मजदूरी को किस तरह से परिभाषित किया जाये ये एक अलग मुद्दा है । लेकिन फिर एक राष्ट्रीय एका इस बात को लेकर बना है या बन-सा गया है कि बच्चों को हर तरह के काम से मुक्त करने वाली शिक्षा देना, ये प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का अर्थ है, बल्कि काम से बच्चों को मुक्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। ऐसी स्थिति में बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव में बहुत सी समस्याएं उत्पन्न होती हैं और उन समस्याओं की ओर इशारा ही मैं यहां कर रहा हूँ । जब हम इस पर बहस करना शुरू करेंगे तो ये तमाम सवाल हमारे सामने उपस्थित होंगे । बहुत खतरनाक कामों की चर्चा मैं यहां नही कर रहा हूँ उन कामों

की चर्चा कर रहा हूँ जो सामान्य जीवन में निहित होते हैं, जो हमारे परिवेश में इतने ज्यादा किये जाते हैं कि जब हम बच्चे होते हैं,तब हमारी इच्छा होती है कि हम उन कामों को खुद करके देखें। किसी भी परिवार में, किसी समुदाय में, मोहल्ले में, तमाम तरह के किये जाने वाले काम बच्चे स्वयं करना चाहते हैं । अपने हाथ से करके देखना चाहते हैं । अगर उनके आसपास कोई साइकिल ठीक करने की दुकान है तो वह साईकिल ठीक करना चाहता है । अगर उसके आसपास साड़ी बनाने का कारखाना है तो वह स्वयं कोई छोटा मोटा काम ही करना चाहते हैं। कोई चीज यहां से उठाकर वहां रखना, इस तरह की एक सहज, स्वत:स्फूर्त इच्छा और जिज्ञासा बचपन में होती है । उसका निषेध प्राथमिक शिक्षा की मौजूदा स्वीकृत नीतियों में अवधारणा के स्तर पर अवश्य निहित है, भले ही हम इस नीति को अभी पूरी तरह से इस्तेमाल न कर सके हों । इस प्रस्ताव में यह निश्चित रूप से निहित है कि बच्चों को कोई काम न दिया जाये, ऐसा काम न उनसे कराया जाये जिसमें कोई जिम्मेदारी हो। इसलिये उन तमाम हस्त-कौशलों का, खेती से जुड़े हुए तमाम कामों का बच्चों से द्वैत है । सही बचपन तो वह हो गया जिसमें यह सब नहीं करना पड़े । चाहे वह बकरी की, गाय- भैंस की देखभाल हो, चाहे वो इधर से उधर सामान ले जाना हो । चाहे वह छोटे बच्चों की देखभाल हो, या वो घर में किया जाने वाला काम खुद करके सीखने का मामला हो । चाहे वो रोटी पकाने का हो, चाहे कोई चीज रंगने का हो, कोई चीज बुनने का हो, इन चीजों से बच्चों को दूर रखना है । तब उसकी शिक्षा ठीक तरह से होगी ।

दरअसल बुनियादी शिक्षा के विचार में सामाजीकरण की अवधारणा का ही निषेध अन्तर्निहित है, समाजीकरण की अवधारणा यह मांग करती है कि हम यह मानें कि व्यक्ति समाज में धीरे-धीरे दीक्षित किया जाता है । समाज की मान्यतायें उसकी स्वतन्त्रता को घेरेंगी और इसलिये उससे इस बात की अनुमति धीरे-धीरे प्राप्त किया जाना है कि वह अपनी स्वतन्त्रता को इन-इन मुद्दों पर गिरवी रखेगा । समाज का जो तन्त्र इस अवधारणा में निहित है, वह तन्त्र यह मांग करता है कि हर व्यक्ति को एक इकाई के रूप में देखा जाये और उसकी अनुमति इस तन्त्र को, जैसा यह है, चलाने के लिए धीरे-धीरे प्राप्त की जाये । इस धीरे-धीरे प्राप्त करने का नाम ही श्रम है । आप बचपन से ही जैसा आप चाहते हैं, हम चाहते हैं कि बच्चे प्रमाणपत्र का महत्व समझ जायें तो हम देखते हैं कि कक्षा एक से ही प्रमाण पत्र लेना शुरु करते हैं । हम चाहते हैं कि बच्चे घंटी का महत्व समझ जायें, जब घंटी बजती है तो एक काम छोड़कर दूसरा काम करना चाहिये । घंटी का मतलब यह होता है कि कोई कह रहा है, हमसे ज्यादा कोई शक्तिवान कह रहा है, कि तुम वह काम मत करो, भले ही उसमें तुम्हारी कितनी ही रुचि जागृत हो रही हो । अब वो करो जिसकी यह घण्टी है । तो घण्टी बजना शुरु होती है और बजते-बजते वो हमें वहां छोड़ती है, जहां पर हम घण्टी को एक घण्टी-केन्द्रित समाज में दीक्षित होने का प्रतीक मान चुके हैं। असली घण्टी वह है जो हमें कोई भी छूट नहीं देती है । 300 वर्षों में उद्योग तन्त्र की घण्टी मनुष्य को बांधने का एक महत्वपूर्ण यंत्र रही है और आधुनिक स्कूल उस घण्टी का महत्व समझाने के लिए 3-4 साल की उम्र से ही बजाना शुरु कर देते हैं, जिससे की 18-20 साल तक पहुंचते-पहुंचते घण्टी का अभ्यास हो जाता है ।

ऐसे ही सफलता और विफलता जैसे मुद्दे हैं जिनको लेकर स्कूल हमें समाजीकृत करता है कि हम अपने को इस समाज में एक स्तर बनाकर मान लें । वैसे सबके लिए अवसर समान है लेकिन हम अन्य स्तरों पर जाने में विफल हैं । इसलिये विफलता की सूचना देना और इस तरह देना कि बच्चे को अपनी विफलता का बोध हो जाये, आधुनिक शिक्षा का एक बड़ा महत्वपूर्ण विवाद है। सबको कहीं ना कहीं महसूस हो कि हम यहां आकर विफल हो गये, यह विफलता बांटने की प्रक्रिया होती है जिसको बचपन में हमें सीख लेना होता है । वरना आधुनिक समाज चल नहीं सकता, जैसा

दरअसल बुनियादी शिक्षा के विचार में सामाजीकरण की अवधारणा का ही निषेध अन्तर्निहित है । समाजीकरण की अवधारणा यह मांग करती है कि हम यह मानें कि व्यक्ति समाज में धीरे–धीरे दीक्षित किया जाता है । समाज की मान्यतायें उसकी स्वतन्त्रता को घेरेंगी और इसलिये उससे इस बात की अनुमति धीरे–धीरे प्राप्त किया जाना है कि वह अपनी स्वतन्त्रता को इन–इन मुद्दों पर गिरवी रखेगा ।

ऐसे ही सफलता और विफलता जैसे मुद्दे हैं जिनको लेकर स्कूल हमें समाजीकृत करता है कि हम अपने को इस समाज में एक स्तर बनाकर मान लें । वैसे सबके लिए अवसर समान हैं लेकिन हम अन्य स्तरों पर जाने में विफल हैं । इसलिये विफलता की सूचना देना और इस तरह देना कि बच्चे को अपनी विफलता का बोध हो जाये, आधुनिक शिक्षा का एक बड़ा महत्वपूर्ण विवाद है।

कि समाज शास्त्री कहते हैं अगर सबकी महत्वाकांक्षा पूरी तरह से उद्दाम रूप लेने के लिए स्वतन्त्र हो जाये तो समाज में अराजकता हो जायेगी । इसलिये महत्वाकांक्षा को ठंडी हवा से थोड़ी ठंडा कर देने का काम स्कूल करता है । वो जिस पैमाने पर करता है इसका अंदाज आपको होगा । मैं एक छोटा सा अंदाज आपको दे दूं । यह जो स्कूल (पढ़ाई) छोड़ देने वाला आंकड़ा है, वह तो आपको अच्छी तरह से पता ही होगा कि हमारे देश में कितने बच्चे स्कूल बचपन में छोड़ देते हैं, प्राथमिक स्तर पर व माध्यमिक स्तर पर, मैं एक और ही छोटा आंकड़ा आपको देना चाहता हूँ जिससे पता लगता है कि महत्वाकांक्षा को काबू में रखने का कितना बड़ा उद्यम, एक सामाजिक उद्यम, हमारी शिक्षा व्यवस्था कर रही है । कक्षा 10 व 12 में किस पैमाने पर बच्चों की छंटाई होती है उसका एक हल्का-सा अंदाजा लग सकता है । अगर देशभर में कक्षा 10 में बैठने वाले कुल बच्चों की संख्या जोड़ लें । 1990 में यह संख्या लगभग 88 लाख थी । इस संख्या में से 41 लाख बच्चे उस वर्ष की परीक्षा में पास हुये, यानि 88 में से 41 लाख, शेष को घोषित किया गया कि वो दसवीं के बाद नहीं जा सकते। फिर जो बच्चे 41 लाख थे, उनमें से 2 साल बाद 37 लाख 12 वीं की परीक्षा में बैठे । उनमें से 17.7 लाख उतीर्ण हुए । अब आप देखिये कि कितना कमाल का जादू है इस शिक्षा में, दो साल में 88 लाख में से 17 लाख को छोड़ती है कि तुम आगे जाओ और बाकी को अहसास दिला देती है कि उनके साथ किसी ने अन्याय नहीं किया । उन्होंने खुद अपने साथ अन्याय किया है कि वो फेल हो गये हैं और आगे जाने लायक नहीं है । यानि 88 लाख की जगह अब केवल 17 लाख को हमें आगे की शिक्षा देनी होती है । बाकी सबको विफलता का बोध इस अहसास के साथ हो जाता है कि हम इसी के लायक थे । ये सफलता और विफलता में समायोजित होने का सिलसिला है । बुनियादी शिक्षा का विचार इस पर काफी चोट करता है । वहां जो मामला है वह कुशलता का है, सफलता या असफलता का नहीं, कुशलता का है । आप किसी चीज को बना कर देख सकते हैं कि मैंने ये चीज बनाई, उसमें अच्छाइयां और बुराईयां हैं । ये तो हर तरफ होती है, उनका मूल्यांकन भी किया जाता है । ये मैंने बनाई और जैसी भी बनाई, मेरे हाथों से बनी हुई है, चाहे ये एक कशीदा हो जो मैंने तकिये के गिलाफ पर काढ़ा है । या यह एक छोटा सा रुमाल है जिस पर मैंने तुरपन की है या ये रोटी है जो मैंने बनाई है, कच्ची है पक्की है, जो भी हो, पर मेरी यह एक प्रति छवि है । इस बात का संतोष इस विचार में ही निहित है और इसलिये सफलता और विफलता को ही स्पष्टता से बांटने की प्रक्रिया इस शिक्षा में दिखाई ही नहीं जा सकती।

यद्यपि बुनियादी शिक्षा के मूल प्रस्ताव में काम को मुख्यत: हस्त कौशल के रूप में ही परिभाषित किया गया है । फिर भी कोई कारण नहीं बनता कि हम काम को एक ज्यादा बड़े संदर्भ में परिभाषित करें । क्योंकि आखिर बुनियादी शिक्षा का विचार मूलत: जीवन के काम से संबंधित है । काम, काम जो जीवन जीने में मदद करते हैं ।

ये बात बच्चे के संदर्भ में कहकर अब मैं अध्यापक की बात करुंगा। एक अध्यापक को बुनियादी शिक्षा के विचार में देखें तो क्या दिखाई देगा ? बुनियादी शिक्षा के बारे में जो प्रमुख विचार निहित हैं उसमें इस बात का अहसास कर सकते हैं कि जिस तरह की कुशलता की हम बच्चे से अपेक्षा कर रहे हैं, जिस तरह की जिम्मेदारी में मानकर चल रहे हैं कि वह पहले से ही निबद्ध है और जो उसके लिये उचित है, संभव है, कुछ गलत नहीं है जिम्मेदारी देना । वह कोई चीज अपने हाथ से बनाये । जो उसके परिवेश के कौशल से जुड़े । किसी कौशल को सीखे, उसमें दक्षता हासिल करे और इस दक्षता की जो साधन-सम्पन्नता महसूस होती है कि मैं यह कर सकता हूँ, मैने यह काम खुद किया। इन तमाम गुणों को अध्यापक के संदर्भ में भी रखकर देखना होगा । तभी हम ऐसे अध्यापक की संकल्पना कर सकते हैं जो बुनियादी शिक्षा के विचार का इस्तेमाल करने वाले स्कूल में पढ़ा सके । उसको अपनी साधन-संपन्नता का बोध हो कि मैं कर सकता हूँ और मैं (जोर देकर) कर सकता हूँ । इन दोनों में ही स्वावलंबन विचार के रूप में, केन्द्रीय मूल्य के रूप में, बहुत गहराई से विद्यमान है कि मैं कर सकता हूँ । मुझे किसी की दरकरार नहीं है कि यह काम तो मैं कर सकता हूँ, यानि कि मैं इसमें इतनी महारत हासिल कर चुका हूँ कि मुझे इसे करने में और गलती

दिखाने में कोई संकोच नहीं है । वो काम क्या है, उसकी बात हो सकती है कि काम कौन कर सकता है । यद्यपि बुनियादी शिक्षा के मूल प्रस्ताव में काम को मुख्यत: हस्त कौशल के रूप में ही परिभाषित किया गया है । फिर भी कोई कारण नहीं बनता कि हम काम को एक ज्यादा बड़े संदर्भ में परिभाषित करें । क्योंकि आखिर बुनियादी शिक्षा का विचार मूलत: जीवन के काम से संबंधित है । काम, काम जो जीवन जीने में मदद करते हैं । वे तमाम काम किये बिना, नियमित रूप से दक्षतापूर्वक किये बिना, जिन्दगी को जीया नहीं जा सकता था । जिम्मेदारी को कोई वक्त दिया जा सकता है, ऐसे कामों में शुरू से ही बच्चों को शामिल रखने का विचार बुनियादी शिक्षा में होता है । इसलिये उन कामों की परिभाषा हम खुली तबियत से कर सकते हैं । अगर स्कूल में सफाई की जाये, शौचालय बनाये रखना है, एक पानी की टंकी है या स्कूल में पानी नहीं है तो पानी का इंतजाम करना, ये तमाम काम छोटे काम है, परन्तु जिनको लेकर आज की शिक्षा व्यवस्था इस तरह हाथ पर हाथ रखे बैठ चुकी है । आपको मालूम होगा, आजाद भारतीय स्कूल, किस तरह स्कूल चलाने के बुनियादी काम को करता है ।

एन.सी.ई.आर.टी. का छठा सर्वेक्षण अभी हाल ही में आया है । एन.सी.ई.आर.टी. के चौथे-पांचवे-छठे, पिछले तीन सर्वेक्षणों के जरिये आप पिछले 10 वर्षों की प्रगति का लेखा-जोखा कर सकते हैं । पानी की उपलब्धता, पेशाब घर की उपलब्धता, ब्लैक बोर्ड की उपलब्धता, इन तीन सर्वेक्षणों में प्रगति का जो ग्राफ बना है, उसे देख कर शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा जो स्वयं एन.सी.ई.आर.टी. में काम न करता हो और वह गर्व महसूस करे कि हमने ये काम करके दिखाये। इन सब चीजों को लेकर एक तरह की लाचारी है । प्राथमिक स्कूलों में घुसते ही आप महसूस करेंगे। आज तक हम कह रहे हैं कि हमारी स्कूलों में, आधे से ज्यादा स्कूलों में, ऐसी जगह नहीं है जहां सम्मान पूर्वक बच्चे किसी पेशाब घर का इस्तेमाल कर सकें। इसको लेकर एक विरोधी-सी बहस चली है कि क्या प्राथमिक स्कूलों में जरुरत भी है शौचालयों की ! शौच जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है या नहीं, अथवा ये मान कर चलें कि बच्चे तो अबोध होते हैं ! बच्चों को इस सुविधा की जरुरत नहीं है !

संविधान में 395 करके एक अनुच्छेद है जिसमें कहा गया है कि राज्य का नीति निर्देशक सिद्धांत यह होगा कि बचपन से ही बच्चों को आजादी और इज्जत के साथ रखने का इन्तजाम हो जाये । अक्सर मेरे मन में यह सवाल उठता है स्कूलों में घूमकर, स्कूलों में बैठकर, यह सोचकर कि यहां मेरे लिए भी शौचालय की कोई व्यवस्था नहीं है तो यहां बच्चों के लिए किस तरह की व्यवस्था होगी ? और उस व्यवस्था का उपयोग करते हुए वे कैसा महसूस करेंगे ? इस को लेकर एक पूरी बहस की जा सकती है कि अगर गांवों में ही शौचालय की संस्कृति नहीं है तो स्कूल में क्यों हो ? वगैरह । इस को लेकर हम सब अपने-अपने दृष्टिकोण से सोच सकते हैं । मैंने यह उदाहरण सिर्फ इसलिए लिया क्योंकि यह एक ऐसा विशेष मुद्दा है जिसको लेकर के आधुनिक भारत अपनी तमाम उपलब्धियों के बावजूद काफी डगमगाया है । आधुनिक भारत क्या है ? आधुनिक भारत वह है जो स्वतन्त्र रूप से उपग्रह अन्तरिक्ष में छोड़ सकता है लेकिन आधुनिक भारत वो नहीं है जो कि अलवर के बस स्टेण्ड के पेशाब घर को साफ कर सके । आधुनिक भारत में पेशाब और टट्टी उतनी ही बड़ी समस्यायें हैं जितनी की आज से 50 वर्ष पूर्व । एक कालेकर समिति बनी थी, विशेष रूप से शौच की समस्या पर विचार करने के लिये । जैसी रिपोर्ट उसने दी थी, उससे भिन्न रिपोर्ट आज तक किसी समिति ने नहीं दी । दिल्ली जैसे महानगर में भी कहते हैं कि शौच की व्यवस्था केवल 12 प्रतिशत लोगों के लिए उपलब्ध है और हमारी देश की शेषतम आबादी किस तरह से जीवन जीने के इन दो बुनियादी कामों को किन परिस्थितियों में करती है ? इन परिस्थितियों में हमारे जन-जीवन पर, स्वास्थ्य पर, समूची संस्कृति पर क्या असर पड़ता है ? इसके ऊपर विचार

एन.सी.ई.आर.टी. के चौथे–पांचवे–छठे, पिछले तीन सर्वेक्षणों के जरिये आप पिछले 10 वर्षों की प्रगति का लेखा–जोखा कर सकते हैं । पानी की उपलब्धता, पेशाब घर की उपलब्धता, ब्लैक बोर्ड की उपलब्धता, इन तीन सर्वेक्षणों में प्रगति का जो ग्राफ बना है, उसे देख कर शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा जो स्वयं एन.सी.ई.आर.टी. में काम न करता हो और वह गर्व महसूस करे कि हमने ये काम करके दिखाये ।

आधुनिक भारत क्या है ? आधुनिक भारत वह है जो स्वतन्त्र रूप से उपग्रह अन्तरिक्ष में छोड़ सकता है लेकिन आधुनिक भारत वो नहीं है जो कि अलवर के बस स्टेण्ड के पेशाब घर को साफ कर सके ।

करना शुरु करें तो आप हैरान नहीं होंगे कि बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव पर अमल करने वाली एक बहुत बड़ी शिक्षिका माधुरी सहाय ने शौचालयों को बनाने, उनको साफ रखने को इतना महत्व दिया था कि उसको भी उन्होंने एक कौशल का नाम दे दिया। स्वयं गांधी के जीवन में शौच का कितना ज्यादा महत्व है, ये सब आपको अंदाज होगा । उनकी राजनीति के केन्द्र में यह बिन्दु था कि शौच से संबंधित जातियों को मानव समाज किस तरह संवारेगा ? क्या यह व्यवस्था बनी रहेगी कि शौच का काम, उससे जुड़ी हुई विभिन्न प्रकार की बाध्यतायें, पूर्व जातीय व्यवस्था के तहत रखी जायें ? या कभी इस प्रकार के काम को इस प्रकार लेंगे कि ये मनुष्य होने के बाद सहज काम हो जाये ? इस काम में स्वावलम्बी होना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि एक डिग्री हासिल करके अपने पैरों पर खड़ा होने लायक आमदनी कमा सकना। अध्यापक का जहां सवाल आता है, वहां पर स्कूल को चलाने के लिए ये तमाम किस्म के उपक्रम आवश्यक होते हैं । उन सभी उपक्रमों में पहल के, स्वावलम्बन के, अपनी साधन-सम्पन्नता के प्रतीक बुनियादी शिक्षा के विचार में निश्चित रूप से निहित हैं।

स्कूल में होने वाली सैंकड़ों हजारों घटनाओं को किस प्रकार आज का अध्यापक अपने हाथ में लेता है, उनमें से किन घटनाओं पर एकदम लाचार हो जाता है, इस पर आप सोचना शुरू करें तो आप पायेंगे ऐसी बहुत कम स्थितियां है जिनमें हमारा अध्यापक बेचैन महसूस करता है । बल्कि हरेक दूसरी-तीसरी स्थिति उसको या तो लाचार बना देती है या उलझनें पैदा करती है । अभी हाल ही में दिल्ली में हुई एक भारी दुर्घटना में सुना होगा जिसमें कई बच्चे यमुना नदी में डूब गये थे । उक्त घटना का महत्व उतना नहीं है जितना कि इस बात का है कि जब वो बच्चे यहां डूब रहे थे, उस समय उनके स्कूल में क्या हुआ ? अव्वल तो उनके स्कूल में इस बात का कोई अहसास ही नहीं था कि 120 बच्चे आज नहीं पहुंचेगें और किसी ने यह महसूस नहीं किया था कि कुछ हुआ है, लेकिन जब डेढ़ घण्टे बाद यह महसूस किया गया और खबर पहुंची तो, यह चश्मदीद रिर्पोर्ट है जो कहती है कि हर एक अध्यापक चाहता था कि कक्षायें सामान्य रूप से चलती रहें । केवल बड़ी कक्षाओं के बच्चे चाहते थे, उन्होंने जोर डाला कि नहीं स्कूल बन्द किया जाये और हम वहां जाना चाहते हैं जहां ये दुर्घटना हुई है । लेकिन लगातार तीसरी घंटी तक अध्यापक एवं प्रिंसिपल यह चाहते रहे कि कक्षायें नियमित चलती रहें । वो तो कहते हैं कि एक लड़के ने आंगन में जाकर घण्टी बजा दी और कई बड़े बच्चे नारे लगाते हुए आंगन में निकल आये और उन्होंने स्कूल बन्द करा दिया और इसके बाद वे आस-पड़ौस के स्कूलों में गये और वहां के स्कूलों को भी उन्होंने बन्द कराया । इधर अनेक रिपोर्ट कहती हैं कि अध्यापक स्कूल के कोने में छोटे-छोटे समूह बनाकर बैठे थे । एक अजीब सी घबराहट हुई, जिसका कई स्तरों पर अध्ययन करने की जरूरत है । हमने अध्यापक को किस तरह बनाया ? अध्यापक को क्या बनाया?

जब माता-पिता, पत्रकार, तमाम किस्म के प्राणी, नेता, अफसर स्कूल में आने शुरु हुए, पूछने के लिए कि क्या हुआ-क्या नहीं हुआ, तो सारे अध्यापकों के मुंह से निकला ''हमें नहीं पता''। यहां तक कि उन बच्चों की सूची तैयार करने के लिए भी कोई अध्यापक तैयार नहीं था जो उस दिन उस बस में सवार थे । जो स्कूल नहीं पहुंचे थे । पहल के अभाव का, साधन सम्पन्नता की विपन्नता का, इससे बड़ा प्रमाण देना, मैं समझता हूँ कि आज के युग में जरुरी नहीं होना चाहिये। एक ही महीना हुआ है इस घटना को, जो दिखाता है कि कितनी छोटी छोटी चीजों को लेकर ... जिन्दगी और मौत से सामान्य चीज क्या हो सकती है ; इसको लेकर भी हम कह सकते हैं, हम इस परिस्थिति का भी सामना कर सकते हैं, अध्यापक को यह अहसास आप का प्रशिक्षण नहीं देता कि कोई बच्चा बीमार हो जाये, किसी बच्चे को चोट लग जाये, इन छोटी-छोटी घटनाओं में भी

अध्यापक का जहां सवाल आता है वहां पर स्कूल को चलाने के लिए ये तमाम किस्म के उपक्रम आवश्यक होते हैं । उन सभी उपक्रमों में पहल के, स्वावलम्बन के, अपनी साधन–सम्पन्नता के प्रतीक बुनियादी शिक्षा के विचार में निश्चित रूप से निहित हैं।

अध्यापक को यह अहसास आप का प्रशिक्षण नहीं देता कि कोई बच्चा बीमार हो जाये, किसी बच्चे को चोट लग जाये, इन छोटी–छोटी घटनाओं में भी अध्यापक की पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि उसे घर भेज दिया जाये । हम कुछ नहीं कर सकते या हमें करना नहीं चाहिये।

अध्यापक की पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि उसे घर भेज दिया जाये । हम कुछ नहीं कर सकते या हमें करना नहीं चाहिये । और जो छोटी-छोटी तमाम स्थितियां आती हैं, उनकी चर्चा करना मुनासिब नहीं लगता है । आप उन सब को अच्छी तरह से जानते हैं कि आज का अध्यापक जिन-जिन कामों के लिए प्रशिक्षित है, उनको आप करते हैं रोजमर्रा के काम कि हमें किस तरह पढ़ाना है ? हमें गणित कैसे पढ़ानी है और भाषा कैसे पढ़ानी है ? सामाजिक अध्ययन कैसे पढ़ाना है, विज्ञान कैसे पढ़ाना है? इन सब के पढ़ाने के चलते बच्चे की जो जिन्दगी है उस जिन्दगी में मूल्य भी है, कभी चोट भी है, कभी प्यास भी है, कभी गिरना भी है, कभी बीमारी भी है, कभी काम, कभी दूसरे की मदद है, कभी घर पर आई जिम्मेदारी है; इन तमाम विवशताओं को अध्यापक उतना ही दूर रखने का प्रयास करता है जितना की कोई अधिकारी रखता है । इन सब से हमें मतलब नहीं है कि तुम आये हो कि नहीं आये हो ।

स्कूलों में एक बहुत बड़ा प्रयोग चलता रहा है भोजन देने का । जो कितनी बड़ी राष्ट्रीय विफलता है इसका आपको अंदाज होगा । लेकिन उसको भी हमने इस तरह चलाया है कि यह एक विशेष जिम्मेदारी है, जिसके लिए विशेष स्टाफ, प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति उस काम को अपने ढंग से कर सके । स्कूल के काम का, बच्चे के प्रति जिम्मेदारी का और स्कूल को, एक सामान्य जिन्दगी को ही संस्था बनाने का जिम्मा आधुनिक प्रशिक्षण नहीं दे पाता । बुनियादी शिक्षा के विचार में यह एक बहुत बड़ी चिन्ता का विषय हमारे लिये बनेगा कि हम ऐसे अध्यापक को कैसे रचें कि जो अपने को साधन समपन्न महसूस करे, जो इन कक्षाओं में विभिन्न विषयों में इस्तेमाल होने वाली विषय सामग्री को भी रख सके । जो उसको फलानी कम्पनी या फलां जगह से खरीदने के लिए अपने को बाध्य न पाये । जो सरकारी अनुदानों पर, सरकारी बाध्यताओं पर, पूरी तरह से निर्भर ना हो। जो इन तमाम किस्म की, जो आज की आधुनिक शिक्षा, विज्ञान के जरिये शिक्षण-प्रणालियों के जरिये, जो आज जरूरतें हमने पहचानी हैं, एक भरी पूरी कक्षा की, उन जरुरतों को अपने आप पूरा कर सके। और न केवल पूरा कर सके बल्कि सुरूचि-सम्पन्नता से पूरा कर सके ।

शायद पुराना बुनियादी शिक्षा का जो माहौल था, उसने साधन-सम्पन्नता पर तो बल दिया लेकिन सुरुचि-समपन्नता को शायद उसने नहीं समझा । ऐसा कई जगह देखने पर मिला। सौंदर्य बोध का अहसास, चीजों को इस तरह करना, उनमें एक सादा सौंदर्य हो । वह आखिर एक तरह के खराब कौशल की परम्पराओं का एक बड़ा गहरा बिन्दु है । कुशलता का अर्थ ही यह है कि हस्त-कौशल के संदर्भ में, पुस्तकों के संदर्भ में, कि एक कुशल दस्तकार अपनी कुशलता से एक सुंदर चीज को जन्म देता है । इस सुन्दरता के बोध को अगर फैलाकर समझेंगे तो हमें लगेगा कि स्कूल को अपने ढंग से रखने में एक सुरूचि-सम्पन्नता का अहसास उस अध्यापक को देना होगा। जिसे बुनियादी शिक्षा के विचार में दीक्षित करके स्कूल चलाने का जिम्मा सौंपा है ।

अब आते हैं उन दो बचे हुए बिन्दुओं पर जो सबसे ज्यादा संश्लिष्ट हैं और आज की दुनिया में गांधी के दर्शन पर आधारित किसी भी विचार को रुपाने में सबसे ज्यादा बौद्धिक श्रम की मांग करते हैं । और वो बिन्दु है : परिवेश और विषय वस्तु । हम परिवेश को किस तरह नियोजित करें और शिक्षा की विषय वस्तु क्या हो ? ये दोनों ही सवाल पहले वाले दोनों सवालों की तुलना में ज्यादा जटिल हैं। अव्वल तो इसलिए कि बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव जिस भी रूप में हमारे सामने 40 के दशक में आया और 50 व 60 के दशक में अपनाया गया, इस इतिहास को पढ़कर आप इस तारीख में परिवेश को और विषयवस्तु को समझने के लिये पर्याप्त जानकारी नहीं प्राप्त कर सकते। आज की दुनिया में इन तमाम चीजों को किस तरह परिभाषित करें ? मैं तो सबसे ज्यादा चिन्तित विषय वस्तु के बहुत से मामूली मुद्दों को लेकर हो जाता हूँ । हमने जो यहां चर्चा छेड़ी

स्कूलों में एक बहुत बड़ा प्रयोग चलता रहा है भोजन देने का । जो कितनी बड़ी राष्ट्रीय विफलता है इसका आपको अंदाज होगा ।

मैं स्वास्थ्य को लेकर इस विषय वस्तु में बहुत ज्यादा परेशान रहता हूँ जब मैं देखता हूँ कक्षाओं में अधिकांश लोग खांस रहे हैं और हम सब खांसते हुए शिक्षक बच्चों को कैसे स्वस्थ्य रखेंगे ? यह राष्ट्रीय स्तर का बिन्दु है ।

है कहीं ज्यादा गहरी है । मैं स्वास्थ्य को लेकर इस विषय वस्तु में बहुत ज्यादा परेशान रहता हूँ, जब मैं देखता हूँ कक्षाओं में अधिकांश लोग खांस रहे हैं और हम सब खांसते हुए शिक्षक बच्चों को कैसे स्वस्थ रखेंगे (व्याख्यान सर्दी के दिनों में हुआ था । इस वक्त कई श्रोता एक साथ खासं रहे थे - संपादक) ? यह राष्ट्रीय स्तर का बिन्दु है । आप इस समय दिल्ली का अखबार पढ़ें तो पायेंगे कि कई स्तरों पर फेफड़ों के जुड़े हुए और छोटे-बड़े रोग ही दिल्ली नगर में स्वास्थ्य की चिन्ताओं के केन्द्र हैं । भला हो प्लेग का, जब वह आता है तो बड़ी चर्चा का विषय बनता है । वरना देखिये स्वास्थ्य की चर्चा का विषय ही खांसी है । ये खांसी-जुकाम जैसे हमारे सामान्य जीवन के अंग से बन गये हैं और इस हद तक बन गये हैं कि इन्हें अस्वास्थ्यजनक नहीं मानते । अगर ऐसी स्थिति में शिक्षा की विषय वस्तु में स्वास्थ्य जैसे विषय को रखना है तो उसके लिए शिक्षक कैसा होगा ? वह किस प्रकार से अपने स्वास्थ्य को सुरक्षित रखेगा कि वो एक आधे घण्टे बिना खांसे बैठ सके । तो यह बात मुझे बहुत ठीक ठीक और बहुत ही जटिल लगती है क्योंकि ये संभव नहीं लगता । तो इस खांसती हुई दुनिया में ही हमें बुनियादी शिक्षा का पौधा रोपना होगा । और उम्मीद करना होगा कि इस पौधे में से भी फल निकलेगा जिसको खा कर के हम सभी की खांसी दूर होगी । तब इस पौधे को यहां रोपेंगे अथवा आप कोई पौधा बताइए।

आपके यहां से एक कवि थे दिवंगत मणि मधुकर । उन्होंने कविता संकलन का एक शीर्षक दिया था, इसी के लिये दिया था या अपनी कल्पना से आगे आने वाली दुनिया के लिए दिया था ! आपको तो ध्यान होगा ही उनका काव्य संग्रह ''खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व'' यह एक काव्य का शीर्षक है ये जो व्यवहारगत न्यूनतम अधिगम स्तरों का प्रस्ताव है, मुझे लगता है इसका शीर्षक आप मणिमधुकर से ले लेते तो साहित्यिक सौन्दर्य बोध भी इस प्रस्ताव में नजर आता।

विषय वस्तु की मीमांसा परिवेश के संदर्भ में करनी होगी, विषय-वस्तु आज जिस तरह हमारे सामने है, पाठ्यक्रम की कल्पना बहुत ही मुश्किल हो गयी है । अगर आप पिछले 30-35 वर्षों में अपने शिक्षकीय जीवन का ही जायजा लेना शुरु करें, तो आप पायेंगे कि विषय वस्तु को एक मूल रूप में मान लेने का माहौल रह चुका है ।

विषय वस्तु तो वह चीज है, जो दी गयी है और शिक्षक को उसे अपनी कुशलता से प्रदर्शित करना है । शिक्षक होने का अर्थ है, उन कौशलों का प्रयोग करना जिनकी मदद से दी गयी विषयवस्तु को बच्चों को ग्राहय बनाया जा सके । उस विषय वस्तु को जन्म देना शिक्षक का कार्य नहीं है । यद्यपि इस सवाल पर बहुत विचार किया गया है । यदि आप कोठारी-आयोग से लगाकर यशपाल समिति तक जो समितियां बनी है उन सभी का निचोड़ इकट्ठा करना चाहें तो निचोड़ में कही कही ऐसे तत्व निकल आयेंगे कि शिक्षक का भी ऐसा जिम्मा है । कुछ लोगों ने पहचाना है कि विषय वस्तु को अपने ढंग से रचे लेकिन कुल मिलाकर जो बात बनी है वो बात यहीं जा कर ठहरी है कि विषय वस्तु को इतना तोड़ मोड़ कर प्रस्तुत करो कि साधारण से साधारण शिक्षक भी यह समझ जाये कि मैं यह बता रहा हूँ वो बताना सारे देश में एक जैसा हो । एक जैसी बात हो रही है देश में, अधिकांश प्रान्तों में, पाठ्यपुस्तकें एक सी मान ली और पाठयपुस्तकों से ज्यादा भी इन स्तरों की बात सुनी होगी । आप शायद इन स्तरों के निर्माता हैं । (हा हा ---) मुझे यहां आकर के अपनी सुरक्षा... जो न्यूनतम अधिगम स्तर हैं, जो देश से न्यूनतम की अपेक्षा कर रहे हैं तो हमने जो अपना एक अरमान बनाया है वो एक महानतम का नहीं, न्यूनतम का है । और वो इस तरह से हमने बनाया है कि उसमें हरेक विषय को छोटे-छोटे व्यवहारों में बार-बार करके इस हद तक बांट दिया जाये कि वे इक्ट्ठा हो ही नहीं सकें । आपके यहां से एक कवि थे दिवंगत मणि मधुकर । उन्होंने उसके लिए एक शीर्षक दिया था, इसी के लिये दिया था या अपनी कल्पना से आगे आने वाली दुनिया के लिए दिया था । आपको तो ध्यान होगा ही उनका काव्य संग्रह ''खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व'' । यह एक काव्य का शीर्षक है, ये जो व्यवहारगत न्यूनतम अधिगम स्तरों का प्रस्ताव है, मुझे लगता है इसका शीर्षक आप मणिमधुकर से ले लेते तो साहित्यिक सौन्दर्य बोध भी इस प्रस्ताव में नजर आता। ऐसी चीजें बहुत मुश्किल से पढ़ी जाती हैं, उनकी पठनीयता एक समस्या है मेरे ख्याल से । पूरे का पूरा सवाल है विषय वस्तु का, शिक्षा की विषय वस्तु क्या हो सकती है ? अगर उसे

परिवेश से लें तो उसकी क्या परिभाषा की जाये ? जो परिवेश की सीमाओं के रहते हुये भी सम्भावनाओं के दरवाजे खुले रखती हो । ये बड़े सुन्दर सवाल के रूप में हमारे सामने हैं । इस सवाल पर विचार करें तो एकदम आरंभिक सवाल पर लौटने का आपका मन होगा, जो इस विचार में ही अर्थात प्रस्ताव में शीर्षक में ही निहित है । शुरु से आज हमने चर्चा की, बुनियादी शिक्षा की - किस चीज की बुनियाद?

किस चीज की बुनियाद हो सकती है शिक्षा ? इस आरंभिक सवाल को मद्दे नजर रखकर हमें विषयवस्तु की ओर चलना होगा । अगर बुनियादी शिक्षा बुनियादी है तो किस चीज की बुनियाद? एक विकल्प हमारे सामने दिखायी देगा, अगर आप आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से देखेंगे, जिसको बहुत ही संक्षेप में और शायद बहुत अन्याय के साथ मैंने चित्रित किया था । तो उत्तर निकलेगा कि बुनियाद तो बच्चे के व्यक्तित्व की ही बुनियाद होनी चाहिये । बुनियादी शिक्षा यानी ऐसी शिक्षा जो बच्चे के व्यक्तित्व की बुनियाद रखे । ये मनोविज्ञान सम्मत विवेचना होगी । और इसमें वे तमाम आग्रह, पूर्वाग्रह निहित होंगे, जो मनोविज्ञान में बच्चे की अवधारणा में ही निहित हैं। बचपन वह समय है जब व्यक्तित्व बनता है और उसके बाद उसको समाज में प्रवेश करना होता है । तो उसकी तैयारी पहले पूरी हो चुकी होनी चाहिये । बचपन और जीवन में एक टकराव है, द्वैत है । बचपन और समाज में एक टकराव है । इकाई और समाज में एक टकराव है । इन सबको मद्देनजर रखकर ऐसी बुनियाद बनाना है जो समाज में जीने के काम आये । यह बचपन की मनोविज्ञान-सम्मत विवेचना है ।

रोहित भाई ने स्वयं बुनियाद शब्द में निहित रूपक का एक जगह बहुत सुंदर विवेचन किया है, जहां उन्होंने न्यूनतम अधिगम स्तरों पर विचार किया है । उन्होंने इस रूपक में निहित जड़ता की ओर इशारा किया है । बुनियाद मकान की होती है जो अपने आप नहीं बन सकता। जब वे बुनियाद की बात करते हैं तो एक मकान से लेते हैं रूपक को और बताते हैं कि जड़ और बुनियाद कहने में क्या-क्या फर्क है ।

क्या एक ऐसे प्रस्ताव में, ऐसे विचार में, जिसमें इन चीजों का पहले से निषेध नहीं हो और बचपन के प्रति एक निरंतरता का अहसास हो, मान्यता के स्तर पर हो, एक ऐसे विचार के संदर्भ में यह कहना उचित होगा कि इसमें बुनियाद व्यक्तित्व की ही बनानी है? और उचित भी होगा तो क्या यह पर्याप्त होगा या इस विचार के बारे में हमें और भी सोचना चाहिए ? अगर मामला केवल बच्चे के व्यक्तित्व की बुनियाद बनाने का है तो फिर विषयवस्तु की समीक्षा करने में परिवेश, कौशल, परंपराएं उस ढंग से स्थानीय नहीं हो सकते या उस ढंग से उनका स्थानीय रहना जरुरी नहीं रह जाता, जिस ढंग से वे किसी और विवेचना के अन्तर्गत होते हैं । यदि बच्चे के व्यक्तित्व को बनाना है तो प्रश्न यह उठेगा कि बच्चे को कैसे संसार के लिए बनाना है ? स्थानीय संसार के लिए या बड़े संसार के लिए, किस तरह की योग्यताएं, किस तरह की क्षमताएं देनी हैं ? और ये देने वाले कौन होंगे ? एक बड़ा सवाल यहां बड़े और बच्चे के संदर्भ में खड़ा होता है कि जो विशेषताएं हम में नहीं हैं, वे हमारे बच्चे कहां से पायेंगे ? हमारे परिवेश में वे कहां से आयेंगी ? किनको देखकर हमारे बच्चे वे विशेषताएं पायेंगे । हम ऐसी विशेषताओं की संकल्पना कर रहे हैं जो हमारे परिवेश में, हमारे समुदाय में अनुपस्थित हैं ? आधुनिक शिक्षा की एक बड़ी भारी समस्या रही है, विचार के स्तर पर, कि हम ऐसी विशेषताओं को जन्म देना चाहते हैं जो पहले से समाज में नहीं है, जिनकी केवल कल्पना हमारे मन में है । जबकि बुनयादी शिक्षा का प्रस्ताव ऐसी विशेषताओं की बात कर रहा है जो पहले से हमारे समाज में हैं । इन्हें कहीं से लाया नहीं जाना है, ये पहले से हैं, इन्हें केवल पहचानना, निखारना और संवारना है । समाजशास्त्र में जिसे आधुनिकीकरण की अवधारणा कहा

आधुनिक शिक्षा की एक बड़ी भारी समस्या रही है, विचार के स्तर पर, कि हम ऐसी विशेषताओं को जन्म देना चाहते हैं जो पहले से समाज में नहीं है, जिनकी केवल कल्पना हमारे मन में है । जबकि बुनयादी शिक्षा का प्रस्ताव ऐसी विशेषताओं की बात कर रहा है जो पहले से हमारे समाज में हैं । इन्हें कहीं से लाया नहीं जाना है, ये पहले से हैं, इन्हें केवल पहचानना, निखारना और संवारना है।

जाता है - माडर्नाइजेशन । उसकी एक धारा या एक साधन शिक्षा मानी जाती है, उस पर विचार करेंगे तो सहज ही यह निष्कर्ष निकलेगा कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया कुछ ऐसी विशेषताओं के जन्म देने में निहित है जो फिलहाल समाज में नहीं है, लेकिन जिनको हम इरादे के साथ या कि इन विशेषताओं में निष्ठा होने के कारण पैदा करने का प्रयास कर रहे हैं, ऐसे व्यवहारों को जन्म दे रहे हैं जो अभी नहीं है लेकिन जिन्हें हमने कहीं से सीखा है, पाया है और जिन्हें अब हम अपने समाज में ला रहे हैं । इसके चलते जो समस्याएं आती हैं उनसे समाज कल्याण और शिक्षा विस्तार के कार्यक्रम अपने-अपने स्तर पर जूझते हैं ।

अगर हम मानकर चलते हैं भाई साफ-सफाई यानी सफाई से रहना । तो हम ये मान कर चलते हैं कि समाज में ये पहले से नहीं है । अगर आप प्रौढ़ शिक्षा की एक सामान्य पोथी पढ़ें तो आप पायेंगे कि ये समाज कैसा समाज है जिसमें हाथ धोने की भी जानकारी दी जाती है । आपने देखा होगा, टेलीविजन पर भी कहा जाता है कि हाथ धोकर खाना खाओ ! इस विज्ञापन को देखते हुए सहज ही मन में उत्कंठा होती है कि ये किसी और देश के लिए तो नहीं बनाया गया ? मैंने दुनिया के कई देशों की यात्रा की है, मुझे पता है कि केवल भारत में हाथ धोने की परंपरा है ।

जो आज एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रतीक चिन्ह है, वह विद्या के साथ जुड़ा रहा है 'कमल का फूल' । कहा जाता है कि शिक्षित मनुष्य तो वह है जो कमल के फूल की तरह दिखे । आप सोचकर देखें कि कमल के फूल में ऐसी क्या विशेषता है कि वह शिक्षित मनुष्य का पारंपरिक प्रतीक बने । इसकी विशेषता है कि यह कीचड़ में खिलता है यानी शिक्षित मनुष्य वह है जो बाकी को कीचड़ की तरह नीचे छोड़ दे और खुद ऊपर खिल आये, जिसके ऊपर कीचड़ का कोई छींटा न दिखाई दे और इसी में विद्या और कौशल है ।

जरुर यह विज्ञापन ऐसे आदमी ने बनाया है जो यह मानता है कि लोग हाथ नहीं धोते हैं और अगर यह विज्ञापन नहीं देखेंगे तो बिना हाथ धोये खाना खा लेंगे, इसलिए पहले उनको हाथ धुलाओ। इस तरह के तमाम आग्रह आप पायेंगे ।

बच्चों की शिक्षा को लेकर भी ऐसे कार्यक्रम बनायें जाते हैं जिनमें ये मान्यता छिपी होती है कि इस तरह से बताना/पढ़ना है कि हमें लगे कोई नयी चीज दी जा रही है । जिन चीजों के उदाहरण हम अपने समाज में नहीं पा सकते । यह जो द्वैत, अन्तर्विरोध है, इसको मानकर ही आधुनिक शिक्षा की बुनियाद आगे बढ़ती है । बहुत से लोग तो सामाजिक परिवेश से इतना परेशान हो जाते हैं कि अपने बच्चों को दूर भेज देते हैं कि इस परिवेश में तो वे बिगड़ जायेंगे। खासतौर से भारतीय अभिजन । ये आ ही रहा है कि भाई ऐसे स्कूल खोल दो जो बिल्कुल साफ सुथरे इलाकों में चलें, बोर्डिंग स्कूल की कल्पना है । भारत सरकार ने जो नवोदय स्कूल खोले हैं, उनमें भी ये परिकल्पना है कि बच्चे को उनके परिवेश से निकाल कर ही उनकी अच्छी शिक्षा संभव है । स्कूल का परिवेश ऐसा बनाओ कि वह एक आदर्श समाज जैसा लगे । बाकी समाज जैसा है, वैसा रहे। ये बहुत ज्यादा ऐसा भी नहीं है कि ये केवल आधुनिक शिक्षा का दुर्गुण है और यह समस्या पारंपरिक अवधारणा में भी एक स्तर पर मौजूद है । शिक्षा के साथ जो रूपक जुड़ा हुआ है, जो बहुत से स्कूलों में अंकसूची या प्रमाण पत्रों पर छपा रहता है, और जो आज एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रतीक चिन्ह है, वह विद्या के साथ जुड़ा रहा है 'कमल का फूल' । कहा जाता है कि शिक्षित मनुष्य तो वह है जो कमल के फूल की तरह दिखे । आप सोचकर देखें कि कमल के फूल में ऐसी क्या विशेषता है कि वह शिक्षित मनुष्य का पारंपरिक प्रतीक बने । इसकी विशेषता है कि यह कीचड़ में खिलता है यानी शिक्षित मनुष्य वह है जो बाकी को कीचड़ की तरह नीचे छोड़ दे और खुद ऊपर खिल आये, जिसके ऊपर कीचड़ का कोई छींटा न दिखाई दे और इसी में विद्या और कौशल है ।

यह जो द्वैत है शिक्षित मनुष्य और उसके बीच का अशिक्षित संसार, जिसके बीच में ही उसकी छवि फूटती है, खिलती है, पारंपरिक हस्तकौशलों पर आधारित कोई विचार इसे स्वीकार नहीं कर सकता । पारंपरिक दस्तकारियां हमारे देश के समाज की धरोहर हैं, छोटी मोटी धरोहर नहीं हैं, बहुत बड़ी धरोहर हैं । इनमें दर्शन के, सौंदर्य के, अनेक स्तर आप बहुत लंबे ऐतिहासिक अनुभव के चरण चिन्ह पा सकते हैं, वे कोई साधारण धरोहर नहीं हैं । और यह बहुत बड़ा विश्वासघात है इस धरोहर के साथ कि इन हस्त कौशलों से जुड़े लोगों को हमने निरक्षर कहकर एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में चित्रित किया है ।

हमारा साक्षरता कार्यक्रम चल ही इस तरह रहा है कि ये तमाम लोग हमारे देश के पिछड़ेपन की निशानी हैं । निरक्षरता कोई बीमारी की तरह है और ये बीमारी उन लोगों में पायी जाती है जो आधुनिक शिक्षा से वंचित हैं । ये वही लोग हैं जिन्होंने इन धरोहरों में दक्षता प्राप्त की है, जो उसे संरक्षित किए हुए हैं । लेकिन साक्षरता के किसी दस्तावेज से आपको यह अहसास नहीं होगा कि उनके श्रेय को, उनके महत्व को पहचाना और माना गया हो, बल्कि साक्षारता और शिक्षा दोनों की अवधारणा ही इस तरह से बनायी गयी है कि वह हमें सब तरह की पारंपरिक कलाओं व कौशलों से दूर रखकर विषयवस्तु का निर्धारण करती है । इसलिए वह एक निराली अजूबा सी चीज बनकर रह जाती है, जिसको बच्चे का बाप, उसकी मां भी नहीं समझ पाते हैं कि ये क्या चीज है जो उसने प्राथमिक स्कूल में जाकर सीखी है । जिन गुणों को सामान्य समाज में जीते-जीते बच्चा प्राप्त कर सकता है, उन्हें वह स्कूल में आकर नहीं पा सकता ।

हमारा साक्षरता कार्यक्रम चल ही इस तरह रहा है कि ये तमाम लोग हमारे देश के पिछड़ेपन की निशानी हैं । निरक्षरता कोई बीमारी की तरह है और ये बीमारी उन लोगों में पायी जाती है जो आधुनिक शिक्षा से वंचित हैं । ये वही लोग हैं जिन्होंने इन धरोहरों में दक्षता प्राप्त की है, जो उसे संरक्षित किए हुए हैं । लेकिन साक्षरता के किसी दस्तावेज से आपको यह अहसास नहीं होगा कि उनके श्रेय को, उनके महत्व को पहचाना और माना गया हो, बल्कि साक्षारता और शिक्षा दोनों की अवधारणा ही इस तरह से बनायी गयी है कि वह हमें सब तरह की पारंपरिक कलाओं व कौशलों से दूर रखकर विषयवस्तु का निर्धारण करती है । इसलिए वह एक निराली अजूबा सी चीज बनकर रह जाती है, जिसको बच्चे का बाप, उसकी मां भी नहीं समझ पाते हैं कि ये क्या चीज है जो उसने प्राथमिक स्कूल में जाकर सीखी है । जिन गुणों को सामान्य समाज में जीते–जीते बच्चा प्राप्त कर सकता है, उन्हें वह स्कूल में आकर नहीं पा सकता ।

यहां मैं दो मामूली से गुणों की चर्चा करना चाहता हूँ । हस्तकौशलों पर यदि हम नये सिरे से विचार करना शुरु करते हैं तो मुझे लगता है इन गुणों पर लौटकर देखने की जरुरत है । एक गुण है कसावट का गुण । किसी काम को अच्छे से करना, जो कितना ही सरल, कितना ही सादा हो लेकिन उसको अच्छे से करके दिखाना । कौशल की परंपरा में तो यह बुनियादी महत्व का बिन्दु है । कोई चीज बनाना, जैसे मिट्टी का बर्तन तो ऐसे बनाना कि उसमें कोई खोट न रह जाये । अगर 100 घड़े बनाये तो 95 में कोई खोट न रहे । एक खास तरह की कसावट । अगर घड़े के ऊपर जो विन्यास खिलेगा, जो रूप बनेगा, उसकी एक खास तरह की कसावट होगी । इस तरह कौशल पर विचार करें तो आप पायेंगे कि कसावट उसका एक बुनियादी लक्ष्य है ।

दूसरी विशेषता है-काम से सामंजस्य ।

अगर आप तकली से एक पौनी सूत कातकर देखें तो पता चल जायेगा कि अंतरिक्ष में उपग्रह भेजना ज्यादा सरल है या एक पौनी को सूत में बदलना । एक आदमी के स्तर पर ये कोई आसान काम नहीं है । एक पौनी को एकसार सूत में बदलने के लिए बड़ी साधना, लय, बड़ा धैर्य चाहिये। और समय का एक ऐसा बोध चाहिए जिसमें किसी का दबाव न हो । अगर कोई अध्यापक कह रहा है, 'जल्दी करो घंटी बज चुकी है' तो इस घंटी के दबाव में आप सूत नहीं कात सकते । ये तो तभी हो सकता है जब आप तकली और पौनी के बीच ऐसा सामंजस्य देखने के आदी हो जायें। सिर्फ आपकी आंखें नहीं आपके हाथ और अंगुलियां, आदी हो जायें तब जाके सूत बनता है ।

यह जो सामंजस्य है किसी कौशल में, इस को इस तरह कहकर बताने में मुझे बड़ा असमंजस हो रहा है । दरअसल इसको बताया नहीं जा सकता। इसको करके ही देखा जा सकता है । फिर भी, बताना बहुत जरूरी है क्योंकि इस प्रस्ताव की पैरवी की जानी है । कौशल कई स्तरों पर संगठन की मांग करता है । इन्द्रियों के स्तर पर, दिमाग के स्तर पर, विश्लेषण करता चलता है, आंखों के स्तर पर और समय बोध के स्तर पर आत्म नियंत्रण की मांग करता है और इस तरह यह अध्यापक की भूमिका को वैसे ही परिभाषित कर देता है । अगर आप लकड़ी का काम कर रहे हैं तो आपको सोचना नहीं पड़ता है कि किसी के कहने पर आपको ऐसे काटना है । लकड़ी अपने आप आपको नियंत्रित करने लगती है । जो औरतें स्वेटर बुनती हैं, पुरूषों को तो मैं कम देखता हूँ, महिलाओं पर ही यह आरोप लगाया जाता है कि धूप में बैठकर ये कर रहीं हैं । आप इस काम को देखें तो पायेंगे कि दक्षता के खास स्तर के बाद कोई बुनने वाला व्यक्ति ऐसा सामंजस्य स्थापित कर लेता है कि उस डिजाइन व पैटर्न को जिसे उसने चुना है, उसको सोच-सोचकर नहीं लाना पड़ता है । वह एक तरह से अपने ही गणित से संचालित होता हुआ वहां पर बिखर जाता है ।

आपको लगता है कि बहुत सुंदर डिजाईन निकला है । इसके पीछे व्यक्तित्व के बहुत से गुण अपने आप बनते रहते हैं किसी के कहने से नहीं बनते । जो परिवेश उसमें बनता है वह भी किसी के कहने या किसी के दबाव से नहीं बनता - अपने आप बनता है । आप इसको कभी आठ-दस साल के बच्चों के बीच बनता हुआ देखेंगे, कभी देखेंगे यदि ऐसा मौका आयेगा - यहां दिगन्तर में या कहीं और, तो आप पायेंगे कि कैसे जादू की तरह काम हुआ है । जिस चीज को हम बचपन मानते हैं, आजकल तो बच्चे बात-बात पर बाहर भागते हैं । किसी स्कूल का दृश्य देखिए कि बच्चे अध्यापक को परेशान किए हुए हैं, अध्यापक का बहुत समय तो उन्हें नियंत्रित करने में बीत जाता है । उसकी तुलना में आप आठ-दस साल के किसी कौशल सीखे हुए बच्चों के समूह को काम करता हुआ देखें तो बचपन की अवधारणा ही एकदम गलत लगती है । जरूर हमें कोई ऐसी बात बतायी गयी है जिसका आधार ही नहीं है, क्योंकि आठ-दस साल के बच्चे यदि किसी कौशल में दीक्षित हैं, वे जिस संलग्नता और धैर्य के साथ काम करते हैं, तो लगता है कि ये वह बचपन नही है जो हमने मनोविज्ञान की किताबों में पढ़ा है । एक लय हर कौशल में होती है, वह छूट भी देती है और बांधती भी है, किसी अपने ही अन्तर्निहित क्रम से बांधती है । और ऐसा नहीं है कि ये बच्चे फिर खेलते नहीं है, खुशी और स्वतंत्रता महसूस नहीं करते हैं, एक खास लय उसमें होती है । एक जगह लाकर उसको छोड़ दिया, फिर वह लय मांग करती है कि अब थक गये, कुछ और करें । इस तरह की विषयवस्तु को विन्यस्त बनाने वाली शिक्षा में ये चीज अपने आप प्रकट होती है ।

तो विषयवस्तु का एक पहलू तो ये है । इससे ज्यादा बड़ा पहलू है आज के संसार का । जब कई क्षेत्रों में हुए वैज्ञानिक और तकनीकी परिवर्तनों के कारण ज्ञान का एक और ही रूप उभर आया है । आज के संसार में स्थानीय परिवेश या स्थानीय ज्ञान परंपराओं को विषय–वस्तु के संदर्भ में कैसे परिभाषित किया जाये कि वो उचित दिखे ? हम जिस समय में जी रहे हैं वहां दो चीजों में आये परिवर्तनों के फलस्वरूप पूरा विश्व ज्ञान की एक लहर में खोया हुआ दिखता है । एक तो मामला है इलेक्ट्रोनिकी के क्षेत्र में, प्रौद्योगिकी के विकास का और दूसरा मामला संचार के क्षेत्र में हम जहां पहुंचे हैं । इन दो मामलों के मिलने से ज्ञान आज उन संकल्पनाओं से लगभग मुक्त सा हो गया है जिनमें वह पिछले दो–ढाई हजार सालों से रखा जाता था ।

समय-सारिणी बनाना बहुत मुश्किल काम होता है यदि आप उस तरह की बनाते हैं जैसे आजकल शिक्षा में बनती है । बहुत सी दिक्कत पैदा हो जाती हैं । क्योंकि इस कौशल के लिए जिस तरह का परिवेश बनाना जरूरी है, जिस तरह का माहौल बनना चाहिये, जिस में उस कौशल की अपनी मांगें, उसकी कसावट महत्वपूर्ण हो जाये तो वह इस तरह की समय सारणियों में नहीं बन सकता । ये एक पीरियड के विषय नहीं हैं । ये त्रासदी है दरअसल 'समाजपयोगी कार्य' जैसे विषयों की, क्योंकि वे एक पीरियड के विषय हैं । यदि आप ईमानदारी से इसे लागू करेंगे भी तो कहा जायेगा ये इस तरह नहीं हो सकता । ये मजाक हो सकता है । यह एक पद्धति है जिसको समय की सीमाओं में उस तरह नहीं बांधा जा सकता जिस तरह हम स्कूली ज्ञान को बांधते हैं ।

तो विषयवस्तु का एक पहलू तो ये है । इससे ज्यादा बड़ा पहलू है आज के संसार का । जब कई क्षेत्रों में हुए वैज्ञानिक और तकनीकी परिवर्तनों के कारण ज्ञान का एक और ही रूप उभर आया है । आज के संसार में स्थानीय परिवेश या स्थानीय ज्ञान परंपराओं को विषय-वस्तु के संदर्भ में कैसे परिभाषित किया जाये कि वो उचित दिखे ? हम जिस समय में जी रहे हैं वहां दो चीजों में आये परिवर्तनों के फलस्वरूप पूरा विश्व ज्ञान की एक लहर में खोया हुआ दिखता है । एक तो मामला है इलेक्ट्रोनिकी के क्षेत्र में, प्रौद्योगिकी के विकास का और दूसरा मामला संचार के क्षेत्र में हम जहां पहुंचे हैं । इन दो मामलों के मिलने से ज्ञान आज उन संकल्पनाओं से लगभग मुक्त सा हो गया है जिनमें वह पिछले दो-ढाई हजार सालों से रखा जाता था ।

ज्ञान और सूचना का फर्क अगर आप सहज विवेचन के स्तर पर करें तो यही बनता है कि ज्ञान वो है, जिसको रखने की कोई जगह उस आदमी ने बना ली है जो इस ज्ञान को पाना चाहता है । सूचनाओं की तमाम भीड़ है, ये हमारे गिर्द फैला सूचना संसार है जिसको रखने की कोई जगह अभी हमारे मन में नहीं है । यदि कोइ जगह बनती है तो सूचनाएं चीजों से जुड़, जाती हैं । वे कहीं हमारे अनुभवों से जुड़ जाती हैं, अन्य सूचनाओं से जुड़ जाती हैं, जिनको हमने पहले पाया था, तो उस तरह से ज्ञान बन जाती हैं वे सूचनाएं । यही अंतर बहुत लंबे समय से मानवता की इस

अवधारणा को बचाये और बनाये रखने में सहयोग देता रहा है ।

वो जगह जिसकी मैंने चर्चा की, उस जगह को ही तो अवधारणा कहते हैं । एक अवधारणा हो तब कोई सूचना उसमें डाली जा सकती है । अवधारणा पहले बनायी जाये या बाद में ये सिलसिला यहां से है कि नई सूचना के लिए जगह कैसे बनायी जाये ? पूर्व सूचनाओं के आधार पर कैसे एक अवधारणा बनायी जाये, जिसमें कोई नयी सूचना डाल सकें, जिसको सौ-डेढ़ सौ सालों का आधुनिक शिक्षण शास्त्र कहते हैं, वो मुख्यत: इसी बात को लेकर आगे बढ़ा था, और उसकी बहुत-सी देन आज हमारे सामने उपलब्ध है ।

सूचनाओं की इस भीड़ में बच्चे को अवधारणाएं बनाने में कैसे मदद दी जाए, कैसे सूचनाओं को ज्ञान में तब्दील किया जाये, अनुभव में कैसे ढाला जाये कि वह उसके जीवन से जुड़े, अन्य सूचनाओं से जुड़े, और सूचनाओं की भीड़ में रहते हुए भी उसको एक अधिकार बोध हो कि मैं जानता हूँ, मुझमें आकर वे सूचनाएं जुड़ गयी हैं - इन्हीं सब से तो वे परिभाषाएं बनी थीं जिनको हमने बालकेन्द्रित शिक्षा में इतना महत्व दिया था ।

सूचनाओं की इस भीड़ में बच्चे को अवधारणाएं बनाने में कैसे मदद दी जाए, कैसे सूचनाओं को ज्ञान में तब्दील किया जाये, अनुभव में कैसे ढाला जाये कि वह उसके जीवन से जुड़े, अन्य सूचनाओं से जुड़े, और सूचनाओं की भीड़ में रहते हुए भी उसको एक अधिकार बोध हो कि मैं जानता हूँ, मुझमें आकर वे सूचनाएं जुड़ गयी हैं – इन्हीं सब से तो वे परिभाषाएं बनी थीं जिनको हमने बालकेन्द्रित शिक्षा में इतना महत्व दिया था ।

लेकिन आज इलेक्ट्रानिक और संचार-माध्यमों के इस मेल के चलते ज्ञान व सूचना में ये वाला फर्क करना बड़ा मुश्किल है । हजारों-लाखों तरह की सूचनाएं उपलब्ध, सुलभ बल्कि सुलभ नहीं, हावी हैं । चाहे ना चाहे हमें दी जा रही हैं । और आज से नहीं, जब हम बच्चे होते हैं डेढ़ साल के, तभी से हम पर वे सूचनाएं बरसना शुरु हो जाती हैं ।

ऐसा कौनसा घर है जहां ये माध्यम नहीं है । आप इन माध्यमों पर विचार करें तो पायेंगे कि इन माध्यमों की तह में ही ज्ञान व सूचना के भेद को मिटा देने का षड़यंत्र है ।अखबार क्या है ? सूचनाओं का एक पुलंदा, जो सुबह से आप पर बरसाया जा रहा है कि साहब, आप सो रहे थे तब ये हो रहा था । अब आप सुबह से अपने उषाकाल का प्रयोग इस संसार का जायजा लेने के लिए कीजिए । जब व्यक्ति उठता है तो सोचता है एक नया दिन उसके सामने आया । महात्मा बुद्ध ने कहा था 'हर दिन हमारे लिये एक मौका है' । तो क्या मौका है ? 'शिक्षित होने के नाते अखबार पढ़ना हमारा मनुष्य धर्म होता है ।'

साक्षरता कार्यक्रम में भी जब हम लोगों से पूछते हैं कि आप क्यों साक्षर करना चाहते हैं तो उसका महत्व यही कह कर बतायेंगे कि लोग अखबार पढ़ने लगेंगे । समझ में नहीं आता कि ऐसी स्थिति में ईर्ष्या की जाये या दया की जाये ! जो व्यक्ति आज अखबार नहीं पढ़ रहा है यदि अखबार पढ़ लेगा तो क्या होगा ? खैर तो बड़ा सवाल है - अखबार, फिर सबसे ज्यादा 'इंटरनेट' ! मेरा ख्याल है कि जयपुर में ही दस बारह संस्थायें इससे जुड़ चुकी होंगी । अब तरह-तरह की सूचनाएं हैं, सूचनाओं के सागर में आप अपनी कुर्सी पर बैठे हैं। ऐसे संसार में जिसे कहा जा रहा है, यह 'विश्वग्राम' है । इसमें कहीं भी होने वाली घटना हम पर प्रभाव डाल सकती है । ना डाले तो भी हमें जानना है ।

इस 'विश्वग्राम' में स्थानीय ज्ञान की बात करने वाला जरुर कोई दुखी और मूर्ख होगा। तो अपनी मूर्खता के बोध को मैं अभी तक नहीं पहचान पाया । निश्चित रूप से एक बड़ा सवाल यहां खड़ा होता है, पूरा तंत्र है हमारे सामने - विश्व पूंजीवाद का, जो आज कई माध्यमों से और कई बहानों से, इसमें भी कई बहाने हैं जो बकायदे बहुत सवाल व ठोस तर्कों का रूप धारण कर चुके हैं अपने राजनीतिक अर्थ में व संस्कृति, कई संदर्भों में, जो हमारे स्थानीय बोध को मिटा देने की वकालत करता है। जो स्थानीयता को एक प्रकार से बुरी चीज मानने की वकालत करता है। इस

विश्व-पूंजीवाद पर आधारित विश्वग्राम के सामने स्थानीयता के महत्व को किस तरह परिभाषित करें कि वह मूर्खत्तापूर्ण न लगे ? इसमें कोई संदेह नहीं कि ये जो घटना घटी है ये कोई अनायास नहीं घटी है । ये इतिहास क्रम के चलते ही घटी है । इतिहास क्रम को कहां से पढ़ना शुरु करें, यदि ये प्रश्न उठता है तो आप इसकी तारीख पहचान सकेंगे कि ये इतिहास क्रम कब शुरु हुआ ?

इस 'विश्वग्राम' में स्थानीय ज्ञान की बात करने वाला जरुर कोई दुखी और मूर्ख होगा। तो अपनी मूर्खता के बोध को मैं अभी तक नहीं पहचान पाया। निश्चित रूप से एक बड़ा सवाल यहां खड़ा होता है, पूरा तंत्र है हमारे सामने – विश्व पूंजीवाद का, जो आज कई माध्यमों से और कई बहानों से, इसमें भी कई बहाने हैं जो बकायदे बहुत सवाल व ठोस तर्कों का रूप धारण कर चुके हैं, अपने राजनीतिक अर्थ में व संस्कृति, कई संदर्भों में, जो हमारे स्थानीय बोध को मिटा देने की वकालत करता है। जो स्थानीयता को एक प्रकार से बुरी चीज मानने की वकालत करता है। इस विश्व–पूंजीवाद पर आधारित विश्वग्राम के सामने स्थानीयता के महत्व को किस तरह परिभाषित करें कि वह मूर्खत्तापूर्ण न लगे ?

इस तारीख को पकड़ने के लिए, मैं बहुत संक्षेप में, चंद वाक्यों में एक आख्यान आपको सुनाना चाहूंगा जो मैंने दो तीन साल पहले पढ़ा था, जिससे इतिहास क्रम की तारीख पकड़ने में मदद मिलती है । यह आख्यान अफ्रीका के मशहूर लेखक कमारा ले का है । कमारा ले ने अपनी एक आत्मकथा लिखी है, शीर्षक है 'अफ्रीकन चाइल्ड', जिसमें उसने दक्षिण अफ्रीका के एक गांव के अपने बचपन के प्रसंग आत्मकथा शैली में लिखे हैं । इस 100-150 पेज की किताब में वर्णन है, कैसे वह अपने गांव के प्राइमरी स्कूल से अच्छे नंबरों से पास होकर बड़े शहर के माध्यमिक स्कूल में पढ़ने गये, फिर अपने देश की राजधानी के उच्चतर माध्यमिक स्कूल में पढ़ने गये । वहां से निकले तो एक बहुत बड़ी प्रतियोगिता के जरिये उनका चयन किया गया कि वे अपने देश के उन 10-15 लड़कों में रहेंगे जो फ्रांस में जाकर इंजीनीयरिंग की शिक्षा पायेंगे । जैसे हमारा देश अंग्रेजों के अधीन था वैसे ही उनका देश फ्रेंच लोगों के अधीन था। तो कमारा ले ने पुस्तक के अंतिम अध्याय में लिखा है कि जब वे चुने गये विदेश की पढ़ाई के लिए तो वे अपने गांव गये और सब लोगों से उन्होंने विदा लेनी चाही । तो उनके रिश्तेदार लोग सब उनको विदा देने के लिए वहां उपस्थित थे । उन सबसे आर्शीवाद लेकर के और जो परंपराएं वहां होती थीं उनको निभा करके वे जाने लगे अपने मामा के साथ तब उनको याद आया कि अभी तक उन्होंने अपने मां से विदा नहीं ली है । उन्होंने ढूंढ़ा कि मां कहां है ? उनके आसपास जो भीड थी उसमें उन्हें मां नहीं दिखी, तो थोड़ा परेशान हुए । जब ढूंढ़ा तो पता चला कि मां झोंपड़ी के अंदर एक अंधेरे कोने में बैठी हुई थी और बुरी तरह से रो रही थी । कमारा ने सोचा कि ये इसलिए रो रही होंगी कि मैं विदेश जा रहा हूँ, लंबे समय के लिए । वे अंदर गये और मां से पूछा-क्यों रो रही हो ? सब लोग देखो मेरी तारीफ कर रहे हैं । तुम्हें तो खुश होना चाहिए कि मैं काबिल सिद्ध हुआ हूँ । मुझे ऊंची पढ़ाई के लिए भेजा जा रहा है । तुम चुप हो जाओ और मुझे आशीर्वाद दो । तो वह कुछ भी नहीं बोलीं और उसी तरह रोती रही। उन्होंने कहा कि अब समय नहीं रह गया है, मुझे जाना है, मैं लेट हो जाऊंगा । तब जाकर अंतिम पृष्ठ पर उन्होंने अपनी मां का वह छोटा सा कथन उद्धृत किया है जिससे उनकी किताब खत्म होती है । जोर डाले जाने पर मां ने रुलाई के बीच आवेश में भरकर कहना शुरु किया : मैं ये अच्छी तरह जानती थी कि तुम यहां नहीं रहोगे । जिस दिन तुम्हारे पिता तुम्हें प्राइमरी की स्कूल में दाखिल कराने गये थे, उसी दिन मैंनें कहा था कि इस जगह बच्चे को मत छोड़ो क्योंकि यह ऐसी जगह है जहां से कोई लौटता नहीं है । मैंने बता दिया था कि ये बच्चा तुम्हारे काम का नहीं रहेगा, इस गांव के या पूरे देश के काम का नहीं रहेगा । ये यहां से चला जायेगा, इसलिए इसको यहां दाखिल मत करो। और उस दिन मैं पूरा जोर डालने के बाद भी सफल नहीं हुई । और उसी का यह फल है कि आज ये दिन मुझे देखना पड़ रहा है । आज तुम जा रहे हो, मुझे अच्छी तरह पता था कि जाओगे । ये मेरे लिए अजीब बात नहीं है । और फिर उसी तरह विलाप करने लगी । कमारा ले ने अपनी किताब अफ्रीकी मांओं को समर्पित की है, जो खेतों में काम करती हैं, अफ्रीका को एक समाज-संस्कृति के रूप में चलाती हैं । उन्होंने यह किताब लिखकर वह तारीख हमें बता दी है जहां से ज्ञान और सूचना के विभेद को मिटाने का सिलसिला शुरु हुआ था । जहां से शिक्षा को अपने परिवेश से काटकर देखने का सिलसिला शुरु हुआ था । इतिहासक्रम में वह तारीख थी उपनिवेशवाद की ।

उपनिवेशवाद ही वो ऐतिहासिक अनुभव है, हमारा भी, यूरोप का भी, जिसमें ज्ञान को स्थानीय परिवेश से काटे बगैर शिक्षित मनुष्य की कल्पना नहीं की जा सकती । बुनियादी शिक्षा के विचार में ये बहुत बड़ी बौद्धिक चुनौती निहित है कि उसकी परिभाषा, उसमें निहित ज्ञान की परिभाषा स्थानीय परिवेश से काटकर नहीं की जा सकती । अगर उसके बारे में ये प्रश्न पैदा होते हैं, क्या ये कौशल बच्चे के अवसरों को कम करेंगे, ये शिक्षा बच्चे की जिंदगी को सीमित कर देगी ? ये सब मौजूं सवाल हैं ।

अवसरों की वो तमाम दुनियां जिसमें आधुनिक शिक्षा सभी बच्चों को दीक्षित तो करती है लेकिन पहुंचाती बहुत कम को है । शेष में निराशा और विफलता का एक बड़ा माहौल रचती है, इससे समाज-व्यवस्था को चलाए रखती है, जिसमें समान अवसर का अहसास तो बना रहता है लेकिन कभी ये महसूस नहीं होता, गाहे बगाहे अपनी विवशता का बोध जरुर हो जाता है । शिक्षा की इस विडंबना को समझते हुए, हमें 'विश्व-ग्राम' की आज की प्रवंचना पर विचार करना है ।

'विश्वग्राम' बना, ये क्या है? कैसा विश्वग्राम है जिसमें एक देश की मुद्रा हमारे देश की मुद्रा से 70 गुना अधिक है । जिसमें एक आदमी एक जगह श्रम कर रहा है, वैसा ही श्रम एक आदमी 5 हजार मील दूर कर रहा है । इस श्रम के मूल्यांकन के बीच इतना बड़ा फासला है कि उस एक आदमी के 100 घंटों का श्रम, दूसरे वाले के एक मिनिट के श्रम के बराबर है । यह कैसा विश्वग्राम है ? विश्वग्राम कहने वाले लोगों से ऐसे सवाल पूछना पिछले दो सौ सालों से मुश्किल रहा है । पहली बार यह सवाल... हां, पूंजी का विकास हो सकता है जब पूंजी भी पूरी तरह मुक्त हो गयी हो ओर श्रम भी मुक्त हो । पूंजी ने जो दुनिया बनाई है उसमें आज पूंजी तो पूरी तरह मुक्त हो गई है जो राजस्थान में आकर हीरे-जवाहरात खरीद सकती है और कहीं का भी ठेका ले सकती है । लेकिन श्रम मुक्त नहीं हुआ। श्रम तो अपने-अपने देश की सीमाओं में बंधा हुआ है और हिसाब से इधर से उधर जाने दिया जाता है और बकायदे लौटाया जाता है । विश्व में श्रम का अलग-अलग मूल्यांकन होता है । इस हद तक अलग होता है कि एक देश का श्रम दूसरे देश के श्रम को शोषण और उत्पीड़न में बदल देता है । ऐसे में विश्वग्राम की परिकल्पना की बहुत निर्मम होकर परीक्षा करनी होगी और तमाम सूचना तंत्र जो हमसे कहता है कि अब अपने अनुभव से हाथ से कोई चीज बनाकर, अपने आसपास के पेड़ का परीक्षण करके, ज्ञान पाने की आवश्यकता नहीं है, अब तो हर ज्ञान कम्प्यूटर से उपलब्ध है, हर ज्ञान उधर से आ गया है । यह ज्ञान है या कुछ और है - उस पर सोचना है ।

बुनियादी शिक्षा के संदर्भ में मामला बहुत आसान है क्योंकि वहां मामला पूरी तरह से अनुभव का है । वे अनुभव जो बच्चों को सामूहिक स्तर पर होते हैं । अगर पेड़ का ज्ञान पाना है तो अपने स्कूल के इर्द-गिर्द के उगे पेड़ों का विभिन्न मौसमों में परीक्षण करके पाया जायेगा, वह बुनियादी शिक्षा के विचार के संदर्भ में वैध ठहराया जा सकता है । शेष ज्ञान को एक विशिष्ट तरह की सूचना माना जा सकता है, जिसका कोई संबंध समाज से, व्यक्तित्व से नहीं बन सकता ।

बुनियादी शिक्षा का विचार किसी संदर्भ में बुनियादी है तो वह समाज-रचना के संदर्भ में ही है । व्यक्तित्व के संदर्भ में ही नहीं, समाज की पुनर्रचना के संदर्भ में भी है । गांधी का जीवन और विचार एक निषेध है उस दुनिया का, जो उपनिवेशवाद के जरिये बनी । वह बहुत बड़ी असहमति थी। और असहमति की शिक्षा अगर बुनियादी शिक्षा नहीं देती, तो वह बुनियादी शिक्षा नहीं कहला सकती । शायद यह बहुत बड़ी कमी रह गयी जो कि आजादी के बाद, जो पहले बीस-तीस वर्षों में बुनियादी शिक्षा बनी, उसमें यह कमी रह गयी, क्योंकि उसमें असहमति की जगह नहीं थी । असहमति का कोई स्थान ही नहीं रहने दिया गया । बल्कि राज और समाज के बीच असहमति के

अवसरों की वो तमाम दुनियां जिसमें आधुनिक शिक्षा सभी बच्चों को दीक्षित तो करती है लेकिन पहुंचाती बहुत कम को है। शेष में निराशा और विफलता का एक बड़ा माहौल रचती है, इससे समाज–व्यवस्था को चलाए रखती है, जिसमें समान अवसर का अहसास तो बना रहता है लेकिन कभी ये महसूस नहीं होता, गाहे बगाहे अपनी विवशता का बोध जरुर हो जाता है । शिक्षा की इस विडंबना को समझते हुए, हमें 'विश्व–ग्राम' की आज की प्रवंचना पर विचार करना है ।

'विश्वग्राम' बना, ये क्या है? कैसा विश्वग्राम है जिसमें एक देश की मुद्रा हमारे देश की मुद्रा से 70 गुना अधिक है । जिसमें एक आदमी एक जगह श्रम कर रहा है, वैसा ही श्रम एक आदमी 5 हजार मील दूर कर रहा है । इस श्रम के मूल्यांकन के बीच इतना बड़ा फासला है कि उस एक आदमी के 100 घंटों का श्रम, दूसरे वाले के एक मिनिट के श्रम के बराबर है। यह कैसा विश्वग्राम है ? विश्वग्राम कहने वाले लोगों से ऐसे सवाल पूछना पिछले दो सौ सालों से मुश्किल रहा है ।

जो मुद्दे पैदा हो सकते थे उन्हें पहले ही पोंछ दिया गया, मिटा दिया गया ।

एक बहस यहां से शुरु हो सकती है कि बुनियादी शिक्षा के संदर्भ में राज की क्या भूमिका हो ? बुनियादी शिक्षा अंततः मनुष्य के समाज की स्वायत्तता का बहुत ही तेज आवाज में किया गया उद्घोष है । किसी भी राज व्यवस्था को, समाज के साथ विनम्रतापूर्वक, आदरपूर्वक सामंजस्य करने की चुनौती है । इसलिए राजतंत्र से, राजतंत्र द्वारा लिये गये निर्णयों से निरंतर एक तरह का द्वन्द्वात्मक रिश्ता बनाने का विचार बुनियादी शिक्षा में अन्तर्निहित है । अगर बुनियादी शिक्षा ऐसे बच्चों को जन्म नहीं दे पाती जो बनते हुए माहौल से असहमत हो सकते हैं तो जरुर उनकी बुनियादी शिक्षा में कोई बहुत बड़ी कमी है । ऐसी शंका करना हमेशा उचित है । ये जो दुनिया बन रही है, इसी दुनियां में जीने के लिए हमें आज की शिक्षा दीक्षित करती है। उनके साथ इस दुनिया को बदला नहीं जा सकता है, वह जैसी भी है, उसी में हमें जीना है । इसमें जीने के साधन, जीने के लिए व्यक्तित्व के गुण हमें प्राप्त करने हैं। अगर इस दुनियां में जी-हुजूरी काम आती है तो जी हुजूरी सीखनी है, प्रतियोगिता काम आती है तो प्रतियोगिता सीखनी है । आज की शिक्षा के जरिये ये संसार बदला नहीं जा सकता। बुनियादी शिक्षा को अगर गांधी की परंपरा में रखना अनिवार्य है तो असहमति का अधिकार मनुष्य के लगभग धर्म के स्तर पर स्वीकार करना होगा । जो दुनिया बन रही है मैं उसी दुनिया में जीने के लिए अभिशप्त नहीं हूं, मैं इस दुनियां को अपने ढंग से बना सकता हूँ । अपने जीवन काल में, जिस हद अपने ढंग से मेरा जीवन इस दुनियां को बदलेगा, उस हद तक बदल सकता हूँ । यह निषेध कोई सचेत निषेध नहीं है, यह सहज जीवन जीते हुए निषेध है। इस पूरी परंपरा से और इस परंपरा से, यदि इस विचार को लेना है, तो इस विचार के इस वृहत्तर पहलू को भुला देना बहुत ही गलत और अन्यायपूर्ण होगा । और हम उसी विफलता के किनारे पहुंच जायेंगे, जहां 1966 में बुनियादी शिक्षा को कोठारी कमीशन ने पाया था और इसको दफनाने का प्रयत्न किया था । यह श्रेय आप कोठारी आयोग को दे सकते हैं कि उसने इस प्रयोग को अंतिम रूप से दफन किया । आज अगर हम इस बीज को फिर से रोपना चाहते हैं तो इन सब जिम्मेदारियों को समझना होगा और अपने बीच बातचीत और बहस का विषय बनाना होगा ।

बुनियादी शिक्षा का विचार किसी संदर्भ में बुनियादी है तो वह समाज-रचना के संदर्भ में ही है । व्यक्तित्व के संदर्भ में ही नहीं, समाज की पुनर्रचना के संदर्भ में भी है । गांधी का जीवन और विचार एक निषेध है उस दुनिया का, जो उपनिवेशवाद के जरिये बनी । वह बहुत बड़ी असहमति थी । और असहमति की शिक्षा अगर बुनियादी शिक्षा नहीं देती, तो वह बुनियादी शिक्षा नहीं कहला सकती । शायद यह बहुत बड़ी कमी रह गयी जो कि आजादी के बाद, जो पहले बीस-तीस वर्षों में बुनियादी शिक्षा बनी, उसमें यह कमी रह गयी, क्योंकि उसमें असहमति की जगह नहीं थी । असहमति का कोई स्थान ही नहीं रहने दिया गया । बल्कि राज और समाज के बीच असहमति के जो मुद्दे पैदा हो सकते थे उन्हें पहले ही पोंछ दिया गया, मिटा दिया गया ।

मुझे लगता है कि इन तमाम बहसों के लिए दिगन्तर से ज्यादा कोई उपयुक्त स्थान नहीं हो सकता । इसका नाम ही दिगन्तर, जो कि एक अलग आकाश देता है, जहां कि आप इस पौधे को खास ढंग से रख सकते हैं । हालांकि बुनियादी शिक्षा एक ऐसा पौधा है कि इसे इतने खास ढंग से नहीं रखा जा सकता कि वो आज की दुनियां की झंझटों, अन्तर्विरोधों और विकृतियों से दूर रखा जा सके । क्योंकि अपने ढंग से जिंदा रहते हुए वो इन अन्तविरोधों को संवारे, ऐसी जिम्मेदारी आप इस पर दे सकते हैं । मैं यह समझता हूँ कि यह आज एक योग्य और उचित विचार है, मुझे आशा है कि इस विचार को पूरी वैचारिक निष्ठा के साथ आजमायेंगे । धन्यवाद ! ◆